अनन्त का छंद

एक तत्वशास्त्रीय विमर्श

प्रसन्न कुमार चौधरी

एक पूर्वावलोकन

1. बीसवीं सदी में जहाँ अध्ययन की विभिन्न शाखाओं का पर्याप्त प्रसार हुआ, वहीं तत्वशास्त्र को काफ़ी हद तक अपनी ज़मीन छोड़नी पड़ी । पूंजीवादी विश्व में परिणामवाद और तार्किक प्रत्यक्षवाद के प्रादुर्भाव के साथ तो तत्वशास्त्र मानो गहरी नींद सो गया । समाजवादी विश्व के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आखिरी खोज थी । सवाल महज उसकी सही व्याख्या का रह गया । और उसकी उतनी ही व्याख्याएँ उपलब्ध हैं जितनी कि कम्युनिस्ट पार्टियाँ अथवा समाजवाद की किस्में । द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अपने आप में एक विशुद्ध अमूर्तन है - (हेगेल के) 'निरपेक्ष विचार' की तरह - जिसके प्रति तमाम कम्युनिस्ट अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं । काण्ट के 'वस्तु-अपने-आप-में' की तरह यह अज्ञेय है । वास्तविक जीवन में हम जिस चीज का साक्षात् करते हैं, वह इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की एक या दूसरी किस्म है । वैसे सिद्धान्ततः कम्युनिस्ट भी अध्ययन की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में तत्वशास्त्र के क्रमशः पतन के हिमायती हैं ।[1] देङ के आधुनिकीकरण और गोर्बाचेव के सुधारों के काल में तो तत्वशास्त्र ने सचमुच पीछे की सीट ग्रहण कर ली है ।

2. अपने देश में, तत्वशास्त्रीय अध्ययन विवरण, व्याख्या, अनुसंधान और ध्यान की चारदीवारी में सीमाबद्ध रहा है । हमारे राष्ट्रीय मन के निर्माण में इन सब का अपना-अपना योगदान तो है, फिर भी ये अध्ययन की उस श्रेणी में नहीं आते जिन्हें हम अभिनव प्रवर्तन अथवा एक कवि के शब्दों में 'जीवंत स्रष्टा मन की नव नवतर परिणति'[2] की संज्ञा दे सकें । प्रत्येक युग में, किसी भी राष्ट्र के 'भाग्य से किए वायदे' की सच्ची शुरुआत तो अभिनव मन से ही होती है और उस वायदे को निभाने के लिए उसे अपने एक युग प्रवर्तक तत्वचिन्तन के साथ सामने आना होता है ।

3. पूंजीवादी विश्वः पर्यावरण असंतुलन, प्रदूषण, आण्विक युद्ध के खतरे, जैव-तकनीकी अनुसंधानों के भयावह संकेत, नशीली दवाओं का फैलता साम्राज्य, एड्स, अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद, आदि - इन समस्याओं से आज पश्चिमी मन आक्रान्त है । लेकिन ये अलग-अलग समस्याएँ नहीं हैं और इन्हें मानवजाति की विराट अग्रगति के अनिवार्य दुष्परिणाम कहकर हल्के रूप में ख़ारिज भी नहीं किया जा सकता । इनका स्वाभाविक सम्बन्ध विश्व के प्रति परिणामवादी रवैये से है । परिणामवाद की

सीमाएँ और उसके खतरनाक परिणाम अब जगजाहिर हैं । एक समय इसी परिणामवाद ने पश्चिमी समाज को विविध क्षेत्रों में विराट गतिशीलता प्रदान की थी । आज वही अपवृद्धि की शिकार हो गया है । पश्चिमी मन को अब एक ऐसी सुसंगत दृष्टि की तलाश है जो परिणामवाद के घावों पर मरहम-पट्टी कर सके; 'एक दीया जो बेहतर, अधिक सुरक्षित भविष्य की ओर तमाम विज्ञानों का मार्ग रोशन कर सके ।'[3]

4. पूर्व-उपनिवेश/ग़रीब देश (तीसरी दुनिया): इन समाजों की बिडम्बना यह है कि एक ओर अपने अतीत से इनका नाता बुरी तरह कमज़ोर पड़ चुका है और दूसरी ओर वे भविष्य के साथ कोई सार्थक संवाद भी नहीं बना पाए हैं । एक ओर अतीत के अन्धविश्वासों का कुआं है, तो दूसरी ओर इन समाजों के नए अभिजात तबकों द्वारा पश्चिमी अथवा आधुनिक समझी जानेवाली प्रवृत्तियों के विकृत नकल की खाई । इन दो ध्रुवों के बीच पिस रहे ये समाज पहचान के गम्भीर संकट से गुज़र रहे हैं । यह संकट भी दूरगामी तौर पर ख़ुद उनके स्वाधीन सामाजिक विकास से जुड़ा मसला है । वे न तो अतीत में शरण ले सकते हैं और न ही पश्चिमी देशों के आइने में अपना भविष्य निहार सकते हैं ।

5. समाजवादी देशः देङ के आधुनिकीकरण, गोर्बाचेव के सुधारों और सोवियत संघ के पतन ने तो भानुमति का पिटारा ही खोलकर रख दिया है । नए संशयात्मक रुख़ ने पुरानी आस्था की जगह ले ली है । बहुतेरे सैद्धान्तिक और राजनीतिक प्रश्न जिन्हें कभी हल हो गया समझ लिया गया था, रंगमंच पर पुनः वापस आ गए हैं । इन सबके परिणामस्वरूप समाजवादी विश्व के मार्गदर्शक द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की आलोचनात्मक समीक्षा भी अपेक्षित लगती है, जिसका सिद्धान्त और व्यवहार में अमल करने का दावा किया जाता है ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक ऐतिहासिक उपज है, और प्रत्येक ऐतिहासिक उपज की तरह इसका पतन भी लाज़िमी है । रूढ़िवादी मार्क्सवादी इस खास तत्वशास्त्रीय प्रवृत्ति (जो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में यूरोप में सामने आई और जिसने बीसवीं सदी में क्यूबा से लेकर वियतनाम तक कम्युनिस्ट-शासित राज्यों में मार्गदर्शक तत्वशास्त्र के रूप में राज किया) की ऐतिहासिकता को नज़रअंदाज़ कर विचार-पूजा का शिकार हो जाते हैं ।

लेनिनवाद भी एक विशिष्ट रूसी परिघटना थी - जारशाही रूस में चल रहे सैद्धान्तिक और राजनीतिक संघर्षों का एक विशिष्ट परिणाम । तत्कालीन पश्चिमी यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन के कुछ हल्कों में प्रचलित मार्क्सवाद उसका बस एक स्रोत था । उसके अन्य स्रोत तत्कालीन रूसी समाज में मौज़ूद थे । दिसम्बर विद्रोह (1825 ई.) के दिनों से ही चली आ रही रैडिकल अन्तर्धारा और नरोद्निकों के यूटोपियन अराजकतावाद ने पहली रूसी क्रान्ति (1905-07) की पूर्व बेला में और स्तोलीपिन सुधारों के काल में अपेक्षाकृत अधिक परिपक्व और सुसंगत क्रान्तिकारी सिद्धान्त के लिए ज़मीन तैयार की । लेनिन एक विशिष्ट रूसी उपज थे - निकोलाई चेर्नीशेव्स्की और यहाँ तक कि प्लेखानोव से भी अधिक रैडिकल और नरोद्निकों से कम यूटोपियन ।

चीनः चीनी विशिष्टताओं के साथ समाजवाद का निर्माण करने के लिए मार्क्सवादी भौतिकवाद को कन्फ्यूशियन नैतिकता और परिणामवादी गतिशीलता से जोड़ा जा रहा है । देङ की प्रख्यात सूक्तियों

- 'व्यवहार ही सत्य की एकमात्र कसौटी है' और 'तथ्यों से सत्य का पता लगाओ' - को जेम्सियन परिणामवाद अपनाने के चीनी तरीके के रूप में देखा जा सकता है । इस क्रम में यह भी कहा जा सकता है कि सारसंग्रहवाद उतनी बुरी चीज नहीं जैसा कि रूढ़िवादी द्वन्द्ववादी उसे बताते हैं । पुराने समाज की रूढ़ श्रेणियों से मस्तिष्क की मुक्ति की प्रक्रिया में सारसंग्रहवाद अथवा परिणामवाद एक लाभदायक संक्रमण काल साबित हो सकता है । आख़िरकार मस्तिष्क की मुक्ति किसी प्रयोगशाला में तो हासिल नहीं की जा सकती !

6. 'दार्शनिकों ने अब तक दुनिया की विभिन्न रूपों में व्याख्या की है । सवाल तो उसे बदलने का है ।' कार्ल मार्क्स की इस उक्ति के डेढ़ सौ से भी अधिक साल गुजर जाने के बाद हम दुनिया को कई अर्थों में वाकई काफ़ी बदला हुआ पाते हैं । इतना कि इसकी नए सिरे से व्याख्या ज़रूरी मालूम पड़ती है ।

'व्याख्या' और 'बदलने' के बीच कोई चीन की दीवार नहीं । 'बदलने' की प्रत्येक कार्यवाही पहले कुछ व्याख्याओं की अपेक्षा रखती है और प्रत्येक 'व्याख्या' अपने अन्दर बदलाव के पहलू लिए होती है । व्यावहारिक जीवन में हम अक्सर व्याख्या को बदलाव की कार्यवाही में और बदलाव की प्रत्येक कार्यवाही को व्याख्या में रूपान्तरित होते देखते हैं । फिर भी अलग-अलग दौर में इन दोनों में से किसी एक पहलू पर अधिक ज़ोर दिए जाने के महत्व को नकारा नहीं जा सकता ।

दुनिया की एक निश्चित व्याख्या से लैस होकर उसे बदलने की प्रक्रिया में संसार भर के मार्क्सवादियों को आज ऐसे सवालों से रू-ब-रू होना पड़ रहा है जिनका जवाब दुनिया की एक नई व्याख्या ही हो सकती है । ऐसी स्थिति में दुनिया को बदलने का नारा दुहराते रहना दुनिया की नई व्याख्या पेश करने में अपनी अक्षमता को ही ज़ाहिर करना है ।

बदलने की जगह व्याख्या के पहलू पर ज़ोर देने से अन्य तत्वशास्त्रीय श्रेणियों की तत्सम्बन्धी स्थितियों में भी तब्दीलियाँ आ जाती हैं । मसलन, जब ज़ोर दुनिया को बदलने पर होता है, तब हम ज्ञान की प्रामाणिकता पर, उसकी सच्चाई पर अधिक बल देते हैं । इस क्रम में हम उन व्यावहारिक परिणामों पर अधिक ध्यान रखते हैं जो हमारे ज्ञान की सच्चाई की पुष्टि करते हैं । लेकिन जब ज़ोर दुनिया की नई व्याख्या पर होता है, तो हम संशयात्मक रुख अपनाते हैं, उन पहलुओं की ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं जो हमारे ज्ञान से मेल नहीं खाते । यह संशयात्मक रुख हमें एकबारगी उन्हीं मूलभूत प्रश्नों तक ले जाता है, जिन्हें हम कल तक हल हो गया समझ बैठे थे ।

7. भौतिकवादी दृष्टिकोण ने हममे इस आत्मविश्वास का संचार किया था कि हम प्रकृति के नियमों को जान सकते हैं और हमारा यह ज्ञान हमें प्रकृति का स्वामी बना सकता है । औद्योगिक और वैज्ञानिक-तकनालॉजिकल क्रान्तियों की विस्मयकारी उपलब्धियों ने हमारे इस आत्मविश्वास की पुष्टि की । प्राकृतिक शक्तियों को अपना सेवक बनाने का ऐसा अभियान चला कि बस पूछिए मत । आत्ममुग्ध हो हम ख़ुद अपनी कामयाबी पर इठलाने लगे ।

बहरहाल, स्वामित्व की हमारी धारणा इस शब्द की आम सामाजिक समझ से ऊपर नहीं उठ सकी । फलतः स्वामी-सेवक सम्बन्ध की तमाम सामाजिक विकृतियाँ मनुष्य-प्रकृति सम्बन्धों में भी प्रकट होने लगीं । बहिष्कृत मध्य के नियम पर आधारित द्वन्द्वात्मक विधि ने भी स्वामी-सेवक सम्बन्ध से परे किसी समझ का मार्ग प्रशस्त नहीं किया । अब इस सम्बन्ध की विकृतियों ने ऐसा भयानक रूप धारण कर लिया है कि हमारे रोंगटे खड़े होने लगे हैं । कल हम आत्ममुग्धता में मदहोश थे, आज हमारे चेहरे पर भय की लकीरें उभर आई हैं ।[4]

क्या प्रकृति सचमुच इतनी ज्ञेय है ? क्या हम सचमुच उस पर स्वामीवत शासन कर सकते हैं ?

8. आधुनिक भौतिकवाद के आदिपुरुष माने जाने वाले सर फ्रांसिस बेकन के लिए प्रकृति इतनी ज्ञेय थी और यह ज्ञान मनुष्य को इतनी शक्ति देता था कि वह प्रकृति को अपने ऊपर हावी होने देने के बजाय उसे अपनी सेवा में लगा सके और अपनी दासी बना सके । प्रकृति को उसकी प्राकृतिक अवस्था से बाहर निकाल लाना और उसे ठोक-पीटकर मनचाहा रूप देना - उनकी नज़र में मानवजाति का यही असली कार्यभार था । (प्रसंगवश, वे उन दिनों यूरोपीय शक्तियों द्वारा चलाये जा रहे बर्बर औपनिवेशिक अभियान के भी उत्साही समर्थकों में थे । और तो और, वे प्रकृति को वश में करने के अभियान को नारी-जाति को वश में करने के अभियान के साथ जोड़कर देखते थे ।)[5]

9. बहरहाल, वस्तु-रूपों की सापेक्ष ज्ञेयता और प्रकृति की ज्ञेयता एक ही चीज नहीं है । अनन्त, सतत् प्रवहमान वस्तु-रूपों का एक सम्मिलित सम्बोधन है प्रकृति । न इसका आदि ज्ञेय है, न अन्त । यह तो आदि-अन्त की सीमाओं से परे है । प्रकृति की अज्ञेयता का यह आकर्षण ही मानवीय ज्ञान प्रयासों का प्रस्थान-बिन्दु है । प्रकृति की इस अज्ञेयता से मानवीय ज्ञान-प्रयासों की सीमाहीनता निर्धारित होती है । ज्ञात का क्षेत्र बढ़ने से अज्ञात का क्षेत्र घटता नहीं, वह ज्यों का त्यों बना रहता है; बल्कि अज्ञात के भी नये-नये आयाम उद्घाटित होते रहते हैं । प्रकृति के प्रति निरपेक्ष ज्ञेयता का रुख़ उच्छृंखलता या उद्दण्डता को जन्म देता है और ज्ञान प्रयासों में भटकाव लाता है ।

10. प्रकृति की अज्ञेयता मनुष्यमें निस्सहाय होने का भाव भी पैदा करती है और यह उसे अकर्मण्य बना दे सकती है । लेकिन साथ ही असहाय अवस्था मनुष्य को अपने अस्तित्व के लिए सहायक खोजने के लिए भी बाध्य करती है - मानसिक और भौतिक दोनों । मनुष्य संभाव्यता की श्रेणी से कभी छुटकारा नहीं पा सकता । लेकिन इससे छुटकारा पाये बिना उसे चैन भी नहीं मिलता । इसीलिए उसका इतिहास इस श्रेणी से मानसिक और भौतिक दोनों धरातल पर छुटकारा पाने के उसके प्रयासों का इतिहास है ।

11. विभिन्न गति-रूपों में प्रवहमान वस्तु-रूपों की अनन्त श्रृंखला ही हमारी इच्छा से परे अस्तित्वमान प्रकृति है । मस्तिष्क चिन्तनशील भूत है और कामना उसकी अभिन्न पहचान । दूसरे शब्दों में, कामना चिन्तनशील भूत के अस्तित्व का ढंग है । कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदामीत ।[6]

जानने की कामना - इस क्रम में मस्तिष्क कुछ ऐसे प्रवर्गों की रचना करता है जिसके बिना विभिन्न गति-रूपों में प्रवहमान वस्तु-रूपों को समझना असंभव है । ऐसे प्रवर्गों की रचना अचेत भूत की तुलना में चिन्तनशील भूत की प्रथम स्वाधीन क्रिया होती है । ये प्रवर्ग मनोगत होते हैं, लेकिन इन मनोगत प्रवर्गों के बिना वस्तुगत रूपों की समझ हासिल नहीं की जा सकती ।

हम जो देखते हैं, जिनका अनुभव करते हैं, वे परिघटनात्मक रूप हैं - गति-रूप/वस्तु-रूप । गति-अपने-आप-में/वस्तु-अपने-आप-में (सार रूप में सामान्य का प्रवर्ग) मनोगत प्रवर्ग हैं । ('यदि तमाम मूर्त रूपों का सार निकाला जाए तो अमूर्त वस्तु शेष बचता है । वस्तु एक विशुद्ध अमूर्तन है - वस्तु को न तो देखा जा सकता है और न ही महसूस किया जा सकता है .... जो देखा और महसूस किया जा सकता है, वह एक मूर्त वस्तु है, यानि वस्तु और रूप की एकता .... वस्तु-अपने-आप-में और कुछ नहीं, तमाम मूर्त वस्तुओं का निरा अमूर्तन है जिसके बारे में यह मान लिया जाता है कि कुछ नहीं जाना जा सकता .... जिसे हम दुनिया कहते हैं, वह अनेक रूपों की रूपहीन समग्रता है .... ')[7]

नित्य/गति/वस्तु - ये मनोगत प्रवर्ग हर जगह विद्यमान हैं, हालांकि वस्तुगत रूप से उनका कहीं अस्तित्व नहीं है । उनके बिना अनित्य, विभिन्न गति-रूपों में प्रवहमान वस्तु-रूपों को जानना संभव नहीं । मन के ये प्रवर्ग वस्तुगत दुनिया को जानने में अपरिहार्य वस्तुगत भूमिका अदा करते हैं । विज्ञान की प्रत्येक शाखा उनका वस्तुगत उपकरणों के रूप में प्रयोग करती है । इस तरह गतिशील वस्तु-रूपों से नित्य/सार्विक वस्तु-अपने-आप-में के प्रवर्ग का विकास तत्वशास्त्र का पहला ठोस कदम है ।

12. वस्तु (यह एक सामान्य प्रवर्ग है, और इसीलिए वस्तु-रूप से भिन्न है) तथा चेतना (यह भी एक सामान्य प्रवर्ग है, और इसीलिए विभिन्न वस्तु-रूपों के ठोस ज्ञान से भिन्न है) के बीच का सम्बन्ध तत्वशास्त्र का बुनियादी सवाल माना जाता है । लेकिन प्रश्न का यह प्रस्तुतीकरण ही भ्रामक है ।

विभिन्न गति-रूपों में प्रवहमान विभिन्न वस्तु-रूपों का वस्तुगत अस्तित्व और नित्य/गति-अपने-आप-में/वस्तु-अपने-आप-में के प्रवर्गों का मनोगत अस्तित्व - इन प्रत्यक्षतः परस्पर विरोधी पहलुओं की, और एक दूसरे में उनके रूपान्तरण की सही समझ तत्वशास्त्र की सर्वप्रमुख समस्या रही है । दूसरे शब्दों में, अज्ञेय प्रकृति का (सापेक्ष रूप से) ज्ञेय वस्तु-रूपों में और ज्ञेय वस्तु-रूपों का अज्ञेय प्रकृति में, तथा वस्तु-रूपों के वस्तुगत अस्तित्व का मनोगत परिकल्पना में और वस्तु-अपने-आप-में की मनोगत परिकल्पना का वस्तुगत अस्तित्व में रूपान्तरण - कुल मिलाकर, अनन्त और सान्त तथा विभिन्न सान्त अस्तित्वों के बीच सम्बन्ध और एक दूसरे में उनके रूपान्तरण का प्रश्न तत्वशास्त्र का मूल प्रश्न है ।

इस प्रसंग का अन्त हम फ़्रेडरिक एंगेल्स के निम्नलिखित उद्धरण से करना चाहेंगेः '.... प्रकृति पर अपनी मानवीय विजयों के कारण हमें आत्म-प्रशंसा में विभोर नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि वह हर ऐसी विजय का हमसे प्रतिशोध लेती है । यह सही है कि प्रत्येक विजय से प्रथमतः वे ही परिणाम प्राप्त हुए जिनका हमने भरोसा किया था, पर द्वितीयतः और तृतीयतः उसके बिल्कुल ही भिन्न तथा अप्रत्याशित परिणाम हुए, जिनसे अक्सर पहले परिणाम का असर जाता रहा । मेसोपोटामिया, यूनान,

एशिया माइनर तथा अन्य स्थानों में जिन लोगों ने कृषि योग्य भूमि प्राप्त करने के लिए वनों को बिल्कुल ही नष्ट कर डाला, उन्होंने कभी यह कल्पना नहीं की थी कि वनों के साथ आद्रता के संग्रह-केन्द्रों और आगारों का उन्मूलन करके वे इन देशों की मौजूदा तबाही की बुनियाद डाल रहे हैं .... यूरोप में आलू का प्रचार करनेवालों को यह ज्ञात नहीं था कि इस मंडमय कन्द को फैलाने के साथ-साथ वे स्क्रोफ़ुला रोग का भी प्रसार कर रहे हैं । अतः हमें हर पग पर यह याद कराया जाता है कि प्रकृति पर हमारा शासन किसी विदेशी जाति पर विजेता के शासन जैसा कदापि नहीं है, वह प्रकृति से बाहर के किसी व्यक्ति जैसा शासन नहीं हैः बल्कि रक्त, मांस और मस्तिष्क से युक्तहम प्रकृति के ही प्राणी हैं, हमारा अस्तित्व उसके ही मध्य है .... ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं हम उनके नियमों को अधिकाधिक सही ढंग से सीखते जाते हैं और प्रकृति के परम्परागत प्रक्रम में अपने हस्तक्षेप से अधिक तात्कालिक परिणामों के साथ उसके अधिक दूरवर्ती परिणामों को भी देखने लगे हैं .... लेकिन जितना ही ज़्यादा ऐसा होगा उतना ही ज़्यादा मनुष्य प्रकृति के साथ अपनी एकता का न केवल बोध करेंगे बल्कि उसे कार्यरूप भी देंगे । यूरोप के प्राचीन क्लासिकीय युग के अवसान के बाद उद्भूत होनेवाली और ईसाई मत में सबसे अधिक विशद रूप में निरूपित की जाने वाली, मस्तिष्क और भूतद्रव्य, मनुष्य और प्रकृति, आत्मा और शरीर के वैपरीत्य की निरर्थक एवं अप्राकृतिक धारणा उतनी ही अधिक असंभव होती जाएगी ....'[8]

भारतीय चिन्तन विधि

13. दर्शन क्षण में अनन्त की स्मृति है, नश्वर में शाश्वत का शब्द है, मूर्त में अमूर्त का अभ्युदय है ।

सृष्टि - अदृश्य सूक्ष्म कणों से लेकर नीहारिकाओं तक, जीवाणुओं से लेकर मनुष्य तक - इसी सान्त और अनन्त के, नश्वर और अनश्वर के, वचनीय और अनिर्वचनीय के, मूर्त और अमूर्त के अन्तहीन अन्तःमिश्रण का सिलसिला है, प्रवाह है ।

सत्य सान्त को अनन्त से, ससीम को असीम से, वचनीय को अनिर्वचनीय से एकात्म करने का सतत् सन्धान है । तानि हवा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यामहरर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ।[9]

धर्म प्रकृति और मानव जीवन में इसी सत्य की प्रतिष्ठापना है । धर्म सत्यनिष्ठ जीवन-दर्शन है और संस्कृति मानव जीवन में इसी सत्य की निष्पत्ति ।

14. सृष्टि अन्तहीन भेदों का संश्लिष्ट समुच्चय है । भेद सृष्टि का स्वभाव है और भेदों का अन्त सृष्टि का अन्त है । भेदों की दिक्काल सापेक्ष सत्ताओं की परस्पर निर्भरता और उनका संघर्ष ही यह सृष्टि है । भेदों की नई सत्ताएँ भेदों की पुरानी सत्ताओं की जगह लेती जाती है, यही सृष्टि का प्रवाह है ।

भेदपूर्ण सृष्टि में, प्रकृति और जीवन में भूतों और भावों में, अपने में अनिर्वचनीय अनन्त की अनुभूति ही विवेक है । यह विवेक ही मानव जीवन की विशिष्टता है । सामाजिकता (समूह-चेतना

आदि) मानवेतर प्राणियों में भी देखी जा सकती है । मनुष्य सामाजिक ही नहीं, एक विवेकशील प्राणी भी है । विवेकप्रेरित सामाजिकता, यही उसकी लाक्षणिकता है ।

15. अनन्त के साथ एकात्मता - मूर्त, क्षणजीवी भूतों और भावों के सच्चे ज्ञान की आवश्यक शर्त है । देश-काल सापेक्ष इन भूतों और भावों का सच्चा ज्ञान तो देश-काल से परे अमूर्त, अक्षय, अनन्त प्रवाह के साथ एकात्म होकर ही प्राप्त किया जा सकता है । मूर्त की स्थिति से मूर्त का, क्षण की स्थिति से क्षण का ज्ञान निस्सन्देह एकांगी ज्ञान होगा ।

एकमात्र अनन्त के साथ एकात्मता की अवस्था में ही भेदों से परे जाया जा सकता है - वह अवस्था जहाँ भेद समाप्त हो जाते हैं, सृष्टि नहीं होती है और न होता है कर्म । मानव जीवन का चरम लक्ष्य इसी आध्यात्मिक अवस्था में जाना, फिर उस अवस्था से तमाम दिक्काल सापेक्ष भेदों को जानना, उन्हें यथोचित सम्मान देना तथा मानव जीवन में अस्तित्वमान इन तमाम भेदों की सत्ताओं को उनमें अन्तर्निहित अनन्त/अभेद की स्मृति से युक्त करना और उन्हें अपने-अपने सापेक्ष कर्मों के धर्मों का निर्वाह करने में सक्षम बनाना है । अनन्त की स स्मृति से युक्त न होने से भेदों की यह सत्ता अपनी दिक्काल सीमाओं से परे जाने की कोशिश करती है और उनकी यह कोशिश ही भ्रान्तियों और व्यर्थ के संघर्षों का कारण है । अनन्त की यह उपस्थिति अथवा स्मृति ही भेदों के बावज़ूद सृष्टि का संतुलन बनाए रखती है ।

16. भेद सभ्यता का स्रोत है, स्मृति संस्कृति का ।

17. एकात्मता की स्थिति में विवेक और स्मृति का भी अवसान घटित होता है । सान्त और अनन्त का विभेद/द्वैत भी खत्म हो जाता है । सान्त भी अनन्त की ही अभिव्यक्ति है । अनन्त का अंश भी अनन्त ही होता है । पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।[10] अनन्त तो सान्त रूपों की अनन्त श्रृंखला में ही अस्तित्वमान होता है । इकाई और कुछ नहीं एक अनन्त ही है । हम सब मांहि सकल हम मांहि । हम थै और दूसरा नाहीं ।। (कबीर)

18. विवेक मनुष्यता का लक्षण है, तो अनन्त के साथ एकात्मता उसकी चरम परिणति । यही भारतीय चिन्तन की विशिष्टता है । वैदिक आत्मन्, उपनिषद का ब्रह्म, जैनियों की जिनावस्था (या कैवल्य), बौद्धों का निर्वाण, माध्यमिकों का शून्य, गीता का स्थितप्रज्ञ, मोक्ष आदि सभी अवधारणाएँ इसी अनन्त के साथ एकात्मता के मूल विचार को ही व्यक्त करती हैं । यही बात योग और सहजयानियों पर भी लागू होती है । 'मैं वैं, वैं मैं, ये द्वै नांहीं । आपैं अकल सकल घट मांही ।'[11]

19. स्व का अवसान ही अनन्त के साथ एकात्म होना है । निजी आसक्तियों/चाहतों, निजी सम्पदा, निजी यश की चाहना - इन सबसे परे जाना । हमारा अस्तित्व प्राकृतिक/मानविक शक्तियों की देन है । यही देना - कोई चीज बनाने में अपना अस्तित्व विलीन कर देना - बलि है । यह बलि ही सृष्टि है । हमारे जीवन की सार्थकता भी देने में है, इसी बलि में है । निजत्व हमारे अन्दर की रचनात्मक संभावनाओं को पूरी तरह सामने आने से रोकता है, उन संभावनाओं को विकृत करता है ।

20. जो देता है, वही देवता है । इसीलिए हमारे यहाँ प्राकृतिक और मानविक शक्तियों को (हमारा अस्तित्व जिनकी देन है) देवता कहा जाता है । इन सबके प्रति हमारा रुख़ श्रद्धा का है । यह श्रद्धा अखण्ड है । अगर हम उन प्राकृतिक शक्तियों के प्रति श्रद्धामय नहीं हैं जिनसे हमारा जीवन संभव हुआ है, तब हम उन मानविक शक्तियों के प्रति भी कैसे श्रद्धामय रह सकते हैं जो हमारे अस्तित्व के लिए जिम्मेवार हैं (जैसे माता, पिता, गुरु आदि) । स्व का अन्त अखण्ड श्रद्धामय जीवन का प्रारम्भ है ।

21. दैनिक जीवन में हम ऐसी कई धारणाएँ बना कर चलते हैं जो हमारे होने में अनन्त के तत्व को ही अस्वीकार करती हैं । प्रत्यक्षतः ऐसी चेतना तर्क और बुद्धिसंगत भी लगती है, परन्तु ऐसी चंचल चेतनाओं से परे गए बिना अनन्त-चेतना का प्रादुर्भाव भी नहीं होता । 'अक्षर बाडा सअल जगु, नाहि णिरक्खर कोइ । ताव से अक्खर घोलिअइ, जाव णिरक्खर होइ ।।'[12]

प्रचलित तर्क और बुद्धि स्व के, अहं के अस्तित्व का ढंग है, ऐसे तर्कवादी और बुद्धिवादी स्व का तर्क और बुद्धि से परे शून्य से काट ही अनन्त है । मौन अनन्त के अस्तित्व का ढंग है । परस्पर विरोधों का संघर्ष स्व का स्वभाव है, शान्ति अनन्त का । शान्ति भी अखण्ड होती है । स्व का अन्त अखण्ड शान्तिमय जीवन का प्रारम्भ है ।

22. स्व के अवसान के लिए मन का नियमन आवश्यक शर्त है । मन ही बांधता है और मन ही मुक्त करता है । मन ही इन्द्रियों में विचरनेवाला लौकिक भोगी भी है, और अनन्त का दिग्दर्शन कराने वाला दिव्य चक्षु भी । त्रिगुणात्मक प्रकृति और मानव जीवन में मन के जरिये इन्द्रिय-संयम का यत्न करते हुए सात्विक जीवन की साधना स्व के अवसान और अनन्त के साथ एकात्म होने की ज़मीन तैयार करती है । स्व का अनियंत्रित भोग और स्व का बलपूर्वक शमन दोनों व्यर्थहैं । सहज जीवन में सात्विकता के विकास के साथ स्व का स्वाभाविक अवसान ही अभीष्ट है । स्व का निषेध नहीं, अवसान । स्व का स्वाभाविक अवसान ही सार्विक आत्मा का अभ्युदय है ।

23. अनन्त के साथ यह एकात्मकता ही अनासक्त कर्म की, निःस्वार्थ अनुसंधान की बुनियाद है ।यह दर्शन व्यक्तियों, समाजों, राष्ट्रों, सभ्यताओं और पंथों के परस्पर टकराव के बीच निर्वैयक्तिक व्यक्ति, समाजोत्तर समाज, राष्ट्रोपरि राष्ट्र, संस्कृत सभ्यता और पंथ-निरपेक्ष धर्म का आदर्श प्रस्तुत करता है और उसके लिए प्रेरक का काम करता है । वही व्यर्थ को अर्थ देता है, निरुद्देश्य को सोद्देश्य बनाता है । वही कर्त्तव्यों और नैतिकता का अक्षय स्रोत है ।

क्षण की अपने-आप-में कोई उपयोगिता, कोई मर्यादा, कोई नैतिकता नहीं होती । उसी तरह व्यक्ति-अपने-आप-में, परिवार-अपने-आप-में, समाज-अपने-आप-में, राष्ट्र-अपने-आप-में, सभ्यता-अपने-आप-में, पंथ-अपने-आप-में, अनुपयोगी, अमर्यादित और अनैतिक होता है । अनन्त से ही उसकी उपयोगिता, मर्यादा, नैतिकता निर्धारित होती है ।

24. विवेक-स्मृति-एकात्मता और फिर एकात्मता से निर्वैयक्तिक-निष्काम कर्म की ओर वापसी - जीवन के सभी क्षेत्रों में नेतृत्व की यह आवश्यक शर्त है । कर्म चयन की स्वतंत्रता और फिर

सम्बन्धित कर्म के धर्म का निरूपण और उसका निर्वाह इसी के अनुषंगी हैं । यही भारतीय जीवन का आदर्श है । यही आदर्श हर तरह के कर्म को सृष्टि के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखने में समर्थ होता है । तब ही सापेक्ष कर्म के सापेक्ष धर्म का निरूपण भी संभव हो पाता है ।

25. इस जीवन दर्शन और पद्धति की विशेषता यह है कि इसे किताब पढ़कर हासिल नहीं किया जा सकता । यह सामान्य, सूचनात्मक ज्ञान नहीं है । इसे कठोर साधना के जरिये ही हासिल किया जा सकता है । ज्ञान, कर्म, सहज/भक्ति की कठिन साधना ही वह मार्ग है जो हमें इस अवस्था में ले जा सकता है । भारतीय मनीषियों ने इस साधना का, इन मार्गों का बड़ा ही व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया है ।

अनन्त अनिर्वचनीय है, अज्ञेय नहीं । फिर यह ज्ञेयता के प्रचलित, शास्त्रीय अर्थों में ज्ञेय भी नहीं है । यह जाना नहीं जा सकता, लेकिन हुआ जा सकता है । यह अनुभव किया जा सकता है, इसका साक्षात्कार होता है और इसके साथ लय हुआ जा सकता है । 'आवुस! मैंने ज्ञान को देखा है ।' (बुद्ध) 'असली धर्म तो साक्षात्कार ही है ।' (विवेकानन्द) कबीर भी अपने सतगुरु की अनन्त महिमा बखानते हुए यही कहते हैं, 'लोचन अनन्त उघाड़िया अनन्त दिखावन हार ।।'[13]

26. यह जीवन दर्शन वस्तु और विचार के द्वैत पर आधारित नहीं है, बल्कि वस्तु और विचार से परे उस अनन्त पर आधारित है जिसमें तमाम वस्तु और विचार, तमाम ज्ञात-अज्ञात, जन्मे-अजन्मे वस्तु-रूप और विचार-रूप समाहित हैं । यह उस अनन्त की स्थिति से तमाम वस्तु-रूपों और विचार-रूपों - भौतिकवादी/भाववादी/अज्ञेयवादी/प्रत्यक्षवादी.. विचार प्रणालियों - की दिक्काल सापेक्ष सत्ता, उनके उद्भव-विकास-अवसान का अध्ययन करता है और अपनी प्रासंगिकता के अनुरूप उन्हें यथोचित सम्मान देता है । दर्शन तो एक ही हो सकता है और उसका कोई वर्गीकरण नहीं किया जा सकता । विचार-प्रणालियाँ अनगिनत हो सकती हैं और अपनी-अपनी मूल प्रस्थापनाओं के अनुरूप उनका अलग-अलग वर्गीकरण किया जा सकता है ।

27. कोई आश्चर्य नहीं कि भारत में कला और विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के महत्वपूर्ण ग्रंथ इसी दर्शन को प्रस्थान-बिन्दु मानकर चलते हैं । सान्त और अनन्त के बीच भेदाभेद का विवेक, अनन्त की स्मृति और उसके साथ एकात्मता तथा उस अवस्था से दिक्काल सापेक्ष भूतों और भावों का आकलन-विश्लेषण-मार्गदर्शन - यही भारतीय चिन्तन की लाक्षणिक विधि रही है । यही पाखण्ड रहित ज्ञान की आधारभूमि है । भाषा विज्ञान के क्षेत्र में इसी विधि का अनुसरण कर भारतीय मनीषियों ने सबसे 'वैज्ञानिक' व्याकरण की रचना की । प्रकृत ने संस्कृत का रूप लिया । भरत का नाट्यशास्त्र हो या भास्कराचार्य की लीलावती - सभी ने इसी को प्रस्थान-बिन्दु बनाकर अपने-अपने क्षेत्रों में अनुसंधान और ज्ञान के प्रतिमान कायम किये । चरक संहिता में भी आयुर्विज्ञान अध्ययन करते हुए इसी दृष्टि को आधार बनाया गया हैः लोकेविततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः परावरदृशः शांतिर्ज्ञानमूला न नश्यति ।[14] अनेकान्तवादी स्थिति, पूरी सृष्टि में व्याप्त शक्ति/ऊर्जा की अवधारणा, शून्य और अनन्त का निरूपण - इसी विधि की अनिवार्य परिणतियाँ हैं ।[15]

भारतीय मनीषा, इस प्रकार, धर्म-दर्शन-कला-विज्ञान के किसी द्वैत, परस्पर विरोधी सम्बन्ध को अस्वीकार करती है । वह न तो धर्म और दर्शन के बीच किसी 'निर्जन प्रदेश'[16] को ही स्वीकारती है और न ही धर्म-विज्ञान, धर्म-कला, कला-विज्ञान के किसी वैरभाव को । मनुष्य का जीवन-कर्म विविध रूपों में इन सबका अनोखा समुच्चय है ।

28. विवेक तर्क की स्वाभाविक परिणति है । स्मृति विवेकयुक्त साधना की, और एकात्मता साधनायुक्त स्मृति की । तर्क विवेक तक ले जाता है । स्मृति अपने उत्स की ओर लौटना है । एकात्मता वह अवस्था है जहाँ आने-जाने, जन्मने और मरने, लुप्त हो जाने और फिर उभरने का द्वैतभाव ही समाप्त हो जाता है । यह एक का अनन्त में, मूर्त का अमूर्त में, आवागमन का चिरन्तन प्रवाह में लय हो जाना है ।

एकात्मता की अवस्था से निष्काम कर्म में वापसी अनन्त का अनेक एक में, अमूर्त का अनासक्त मूर्त में, चिरन्तन प्रवाह का निर्लिप्त आवागमन में लौटना है ।[17] कुल मिलाकर, भारतीय चिन्तन विधि का यही सार है । इसे समझे बगैर भारतीय चिन्तन के निष्कर्षों को, और उसके चरित-नायकों को, भलीभाँति नहीं समझा जा सकता ।

सृष्टि

29. पूरी सृष्टि में एक अनन्त शक्ति व्याप्त है - आत्म-पुनरुत्पादन की शक्ति । अन्य सारी शक्तियाँ इसी अनन्त शक्ति की उपज हैं ।

30. आखिर अनन्त है क्या ? आत्म-पुनरुत्पादन की शक्ति ही अनन्त है । सूक्ष्म कण के रूप में इसे हम स्पिन ∞ का माया कण (वर्चुअल पार्टिकल ऑफ स्पिन इनफिनिटी) कह सकते हैं ।

31.आताम-पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में आये व्यवधान/विच्युति अथवा विकृति से ही मूर्त शक्ति-कण और वस्तु-कण अस्तित्व में आते हैं । और फिर ब्रह्माण्डों का अस्तित्व सामने आता है । बहरहाल, अनन्त शक्ति - आत्म-पुनरुत्पादन की शक्ति मूर्त अस्तित्वों में भी अभिव्यक्त होती रहती है ।

32. अनन्त में व्यवधान अथवा विच्युति का प्रश्न फिलहाल अज्ञात का क्षेत्र है । ऊर्जा क्षेत्र, खासकर ताप ऊर्जा में परिवर्तन के सन्दर्भ में इसकी कुछ व्याख्याएँ परिकल्पित की जा सकती हैं । लेकिन ठोस रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं । सिद्धान्त रूप में इतना कहा जा सकता है कि अनन्त में व्यवधान/विच्युति अथवा विकृति वह परिकल्पित क्षण है जब पुनरुत्पादन की प्रक्रिया किसी कारणवश विलम्बित हो जाती है । उलट रूप में जैसे मरने के लिए नियोजित (प्रोग्रेम्ड) कोशिकाएँ मरना भूलकर केन्सरस हो जाती हैं ।

कुल मिलाकर, संसार का सारा क्रियाविधान अनन्त में क्षणिक व्यवधान का, स्मृतियों का सारा संसार अनन्त की क्षणिक विस्मृति का परिणाम है । अनन्त की विकृति ही गोचर सृष्टि है । (प्रसंगवश, वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त में शब्द के जिन दो रूपों की चर्चा की गई है, उनमें उसके व्यक्त रूप को विकृत रूप तथा अव्यक्त को प्राकृत, नित्य रूप कहा जाता है ।)

33. वैसे तो अनन्त की विकृति के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता, फिर भी कुछ परिकल्पनाएँ पेश की जा सकती हैः

क. हर मूर्त अस्तित्व का अन्त है । सूक्ष्म कणों से लेकर मनुष्य, धरती, सौरमण्डल और ब्रह्माण्डों का अगर प्रादुर्भाव है, तो उनका पराभव भी है । सृष्टि है तो संहार भी है ।

ख. बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ब्राउनियन गति की खोज और तीसरे चतुर्थांश में अब्दुल सलाम-स्टीवन वाइनबर्ग के अनुसन्धानों से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्माण्डों की एक ऊर्जा सीमा है । अत्यन्त उच्च और अत्यन्त निम्न ऊर्जा की स्थितियों में पुनर्सामान्यीकरण (रिनॉर्मलाइजेशन) की परिघटना सामने आती है - यानी शक्तियों के एकीकरण की परिघटना । निम्न ऊर्जा की स्थितियों में संतुलन/क्रमभंग (सिमिट्रि-ब्रेकिंग) घटित होता है, यानी शक्तियों का पृथक्करण होता है । चार आधारभूत शक्तियों - विद्युत्चुम्बकीय शक्ति, दुर्बल न्युक्लियर शक्ति, सबल न्युक्लियर शक्ति और गुरुत्वाकर्षण शक्ति से हम दो आधारभूत शक्तियों - विद्युत्चुम्बकीय और गुरुत्वाकर्षण शक्ति - की ओर बढ़ रहे हैं । अनुमान किया जा सकता है कि ऊर्जा की खास स्थितियों में इन दो शक्तियों का भी पुनर्सामान्यीकरण घटित होता है, भले ही वे स्थितियाँ मनुष्य की प्रायोगिक पहुँच से काफी दूर हों, या फिर पहुँच से ही दूर हों ।[18]

ग. ऊर्जा की दो परिकल्पित बिन्दुओं पर अनन्त का संतुलन/क्रम भंग होता है । इन बिन्दुओं से परे क्षेत्र को हम अनन्त का क्षेत्र कह सकते हैं । सृष्टि इन दो सीमाओं के बीच अनन्त के अस्तित्व का ढंग है । अतः ब्रह्माण्डों की सीमाएँ हैं, लेकिन मनुष्य इन सीमाओं की क्षितिज-पटी (इवेण्ट होराइज़न) तक ही झांक सकता है । शक्तियों का पुनर्सामान्यीकरण - विद्युत्चुम्बकीय और गुरुत्वाकर्षण की शक्तियों का अनन्त में लय - प्रायोगिक रूप से असम्भव है, क्योंकि उसका अर्थ होगा ब्रह्माण्ड का संहार और अनन्त में उसका विलयन । बहरहाल, इस क्षितिज-पटी और पुनर्सामान्यीकरण के बीच इतनी दूरी है कि नये-नये शक्ति/वस्तु-कणों के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता ।

घ. अनन्तों के गणित (ज़ॉर्ज़ केण्टर) से हम जानते हैं कि वक्रों (कर्व्स) का अनन्त ज्यामितीय आकारों के अनन्त से, और ज्यामितीय आकारों का अनन्त अंकों के अनन्त से बड़ा होता है । यहाँ हम जिस अनन्त की चर्चा कर रहे हैं, उसे तमाम अनन्तों का पूर्व कल्पित आधार - निरपेक्ष अनन्त मान सकते हैः

निरपेक्ष अनन्त $\rightarrow \infty_2$ (कर्व्स का अनन्त) $> \infty_1$ (ज्यामितीय आकारों का अनन्त) $> \infty_0$ (अंकों का अनन्त)

ङ. कणों में अन्तर्निहित आत्म-पुनरुत्पादन शक्ति को अगर ध्यान में रखा जाए तो सी पी टी संतुलन/क्रम-भंग की भी बेहतर व्याख्या की जा सकती है । (सीः कण की जगह प्रति-कण, पीः दाहिने की जगह बाएँ, टीः समय की दिशा को उलट देना ।) चूँकि कण आत्म-पुनरुत्पादित होते रहते हैं, इसलिए उनको उलट देने की स्थिति में संतुलन-भंग की, उनके द्वारा भिन्न मार्ग अपनाने की संभावना बनी रहती है ।

च. अनन्त का संतुलन-भंग (रिचर्ड फाइनमैन के 'सम ओवर हिस्ट्रीज़' के अनुसार) हर संभव मार्ग अपना सकता है ।[19] दूसरे शब्दों में हम एक ऐसे ब्रह्माण्ड में रह रहे हैं जो अनन्त के संतुलन-भंग की हर संभव सृष्टियों में सेबस एक संभव सृष्टि है । अन्य संभव मार्गों/सृष्टियों - छाया कणों से लेकर छाया ब्रह्माण्डों - के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता ।

34. अनन्त में - आत्म-पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में व्यवधान अथवा विच्युति के साथ ही एक दूसरी शक्ति सामने आती है । विच्युति से अच्युत, विकृति से प्राकृत अथवा व्यक्त से अव्यक्त अवस्था में वापस ले जाने वाली यह शक्ति अनन्त का ही दूसरा पहलू है । सूक्ष्म कण के रूप में इसे हम स्पिन 0 (शून्य) का मायाकण (वर्चुअल पार्टिकल ऑफ स्पिन 0) कह सकते हैं । यह शून्य शक्ति ही तमाम अस्तित्वों में मौज़ूद स्मृति-शक्ति है । जिस तरह मूर्त अस्तित्वों में अनन्त पुनरुत्पादन की शक्ति विभिन्न रूपों में क्रियाशील रहती है, उसी तरह यह शून्य-शक्ति भी स्मृति, आकर्षण, सर्फेस-टेंशन (पृष्ठ-तनाव) आदि विभिन्न शक्ति-रूपों में अभिव्यक्त होती है । (मनोविश्लेषण की भाषा में, अनन्त यदि इरोटिक इंस्टिंक्ट के रूप में तो शून्य डेथ इंस्टिंक्ट के रूप में जाना जाता है ।)

35. तमाम मूर्त अस्तित्व - मूर्त संसार - अनन्त और शून्य की इन्हीं शक्तियों की अन्तःक्रिया का परिणाम है । किसी भी मूर्त/सान्त (फाइनाइट) अस्तित्व का शून्य से गुणनफल शून्य ही होता है, लेकिन अनन्त और शून्य का गुणनफल एक मूर्त/सान्त अस्तित्व है ($\infty \times 0 =$ अ.) ।

36. अनन्त और शून्य की यही शक्तियाँ मूर्त संसार में क्रमशः विद्युत चुम्बकीय शक्ति (वर्चुअल पार्टिकल ऑफ स्पिन 1) और गुरूत्वाकर्षण शक्ति (वर्चुअल पार्टिकल ऑफ स्पिन 2) के रूप में प्रकट होती हैं । अपने शुद्ध रूप में एक यदि परिकल्पित रेखा है, तो दूसरी शक्ति एक परिकल्पित बिन्दु, और दोनों की अन्तःक्रिया का परिणाम एक कर्व्ड स्पेस है । इन्हीं शक्तियों की अन्तःक्रिया से ब्रह्माण्डों का भविष्य निर्धारित होता है । तीन स्थितियों की कल्पना की जा सकती है । पहली, दोनों शक्तियों के बीच एक संतुलन की स्थिति; दूसरी, गुरूत्वाकर्षण की शक्ति पर विद्युत्चुम्बकीय शक्ति के हावी होने की स्थिति जिसके परिणामस्वरूप निरन्तर दूर होते ब्रह्माण्डों (एक्सपेण्डिंग यूनिवर्स) की परिघटना सामने आती है; और तीसरी, गुरूत्वाकर्षण शक्ति का विद्युत्चुम्कीय शक्ति पर हावी होना जिसके कारण ब्रह्माण्डों का संकुचन (कांट्रेक्शन) होता है । कुछ मिश्रित स्थितियों की भी कल्पना की जा सकती है ।

37. गुरूत्वाकर्षण अपने चरम पर जाकर शून्य शक्ति में परिणत हो जाता है । और शून्य-शक्ति अनन्त-शक्ति में लय होने के साथ तिरोहित हो जाती है । दरअसल, गुरूत्वाकर्षण का चरम और शून्य-शक्ति की सिंगुलरिटी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । आजकल की प्रचलित भाषा में जिसे कृष्ण विवर (ब्लैक होल) कहा जाता है, वह शून्य की सिंगुलरिटी है, और महाविस्फोट (बिग बैंग) को अनन्त शक्ति में विच्युति के क्षण के रूप में देखा जा सकता है । चन्द्रशेखर सीमा[20] को ध्यान में रखें तो ब्रह्माण्ड में अनेक कृष्ण विवरों की संभावना बनती है । यहाँ बीज और वृक्ष की उपमा समीचीन होगी । संभवतः बीज रूपी कृष्ण विवर ही महाविस्फोट रूपी वृक्ष के रूप में पुनरुत्पादित

होता है, फिर यह महाविस्फोट पुनः अनेक बीज रूपी कृष्ण विवरों में । यह क्रिया अनन्त रूप से चलती रहती है । 'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये ।'[21]

38. कुल मिलाकर, ब्रह्माण्डों को हम अनन्त-शक्ति सागर में फैलते, अपेक्षाकृत संतुलन की अवस्था में रहते, संकुचित होकर पुनः अनन्त-शक्ति में लीन होते फेनिल बुलबुलों के रूप में देख सकते हैं ।

39. प्रचण्ड गुरूत्वाकर्षण जब ब्रह्माण्ड के सारे ग्रह-नक्षत्रों को, यहाँ तक कि विद्युत्चुम्बकीय शक्ति को भी लील रहा होता है, तब यह संभावना बनी रहती है कि कुछेक खगोलीय पिण्ड उसकी शक्ति के दायरे से बाहर रह जाएँ । अतः यह संभव है कि किसी ब्रह्माण्ड में कुछ ऐसे आवारा खगोलीय पिण्ड भी हों जिनकी उम्र सम्बन्धित ब्रह्माण्ड की उम्र से अधिक हो । पूर्ववर्ती ब्रह्माण्ड के ये अवशेष भी क्या ब्रह्माण्ड के विस्तार को एक सीमा में नियंत्रित रखने का काम करते हैं ?

40. बहरहाल अनन्त शक्ति - आत्म-पुनरुत्पादन की शक्ति - सूक्ष्म शक्ति/वस्तु कणों में भी अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त होती रहती है । हर अस्तित्व में आत्म-पुनरुत्पादन की तीव्रता (फ्रीक्वेंसी) और उसका चक्र (साइकल) अलग-अलग होता है । पहले से जहाँ अस्तित्व-रूप की विकास-प्रक्रिया निर्धारित होती है, वहीं दूसरे से उसका समय (टाइम) । दूसरे शब्दों में, आत्म-पुनरुत्पादन का एक चक्र अलग-अलग अस्तित्व-रूपों में अलग-अलग समय लेता है; और आत्म-पुनरुत्पादन के कुछ चक्रों के बाद हर अस्तित्व-रूप का अन्त हो जाता है । यानी सम्बन्धित अस्तित्व-रूपों का दूसरे अस्तित्व-रूपों में रूपान्तरण हो जाता है । हर अस्तित्व-रूप पुनरुत्पादन के एक निश्चित चक्र के बाद मर जाने (एक्सटिंक्ट) अथवा दूसरे अस्तित्व-रूपों में रूपान्तरित हो जाने के लिए प्रोग्रेम्ड होता है । इसी से हर अस्तित्व की अपनी सापेक्ष दिक्-काल सत्ता निर्धारित होती है । इस आधार पर ब्रह्माण्ड में ज्ञात अस्तित्व-रूपों का वर्गीकरण किया जा सकता है ।

41. किसी भी अस्तित्व के पराभव (एक्सटिंक्शन) के लिए तीन कारक जिम्मेवार हैं । पहला, उनकी आत्म-पुनरुत्पादन शक्ति का ह्रास; दूसरा, उनमें व्यवहारजनित परिवर्तन जिससे उनकी अस्तित्वगत स्थितियाँ बाधित होती हैं; और तीसरा, बाह्य कारक । वैसे मूल कारण पहला कारक ही है, फिर भी बाद वाले कारकों के कारण पराभव की प्रक्रिया में गति आ जाती है और कुछ खास मामलों में वे कभी-कभी निर्णायक भी हो जाते हैं ।

42. अनन्त में विच्युति से शक्ति/वस्तु कणों का अस्तित्व सामने आता है । फिर इन कणों के संश्रयों की अनन्त संभावनाएँ उपस्थित होती हैं । ये कण निरन्तर आत्म-पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में होते हैं । आत्म-संगठन (सेल्फ-ऑर्गेनाइजेशन) भी आत्म-पुनरुत्पादन शक्ति की ही क्रिया (फंक्शन) है । कण इस रूप में आत्म-संगठित होते हैं कि आत्म-पुनरुत्पादन का मार्ग प्रशस्त हो । जब एक खास रूप में आत्म-पुनरुत्पादन असंभव होने लगता है, तब केऑस के एक संक्रमणकालीन दौर से गुजरने के बाद कण/परमाणु/अणु नए रूप में आत्म-संगठित होते हैं और आत्म-पुनरुत्पादन का नया चक्र शुरू हो जाता है । परमाणुओं से लेकर मनुष्य के अस्तित्व तक की इस दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है । एक बार आत्म-पुनरुत्पादन शक्ति के सिद्धान्त को मान लेने से कणों की गति-प्रकृति, छाया-कणों (शेडो पार्टिकल्स) के अस्तित्व जैसे प्रश्नों को समझने में मदद मिल सकती है ।

43. दरअसल, आत्म-पुनरुत्पादक शक्ति को निर्जीव और सजीव पदार्थों के बीच निर्णायक विभाजक-रेखा माना जाता है । यह रूढ़िवादी सोच ही हमें शक्ति/वस्तु कणों में आत्म-पुनरुत्पादक शक्ति देखने से वंचित कर देती है । वैज्ञानिक अनुसंधानों से आज जो दुनिया उद्घाटित हुई है, उसकी व्याख्या के लिए यह सोच पूरी तरह अप्रासंगिक हो गई है ।

44. अनेक, एक के अस्तित्व का ढंग है । विविधता और एकता विरोधी श्रेणियाँ नहीं - विविधता एकता के अस्तित्व का ढंग है । अनगिनत भेदपूर्ण अस्तित्व-रूप अनन्त के अस्तित्व का ढंग है । एक अनन्त शक्ति - आत्म-पुनरुत्पादन की शक्ति - अनन्त अस्तित्व-रूपों में अभिव्यक्ति पाती है । एक अर्थ में, सृष्टि अनन्त का ही आत्म-प्रकटीकरण है ।

मनुष्य का अस्तित्व

क. सामान्य

45. मनुष्य के अस्तित्व की एक विलक्षणता यह है कि वह अपने विकसित मस्तिष्क के साथ जन्म ही नहीं ले सकता ।[22] उसके मस्तिष्क का पूर्ण विकास जन्म के डेढ़-दो साल बाद जाकर सम्पन्न होता है । उसके अस्तित्व की इस विलक्षणता के कारण उसकी प्रोग्रेमिंग में एक फांक उत्पन्न हो जाती है । वह पूरी तरह नियोजित प्राणी नहीं है । नियोजन की यह कमी ही प्रकृति के बरक्स मनुष्य की स्वतंत्रता, उसकी स्वतंत्र इच्छाशक्ति (फ्री विल) का बायस बनती है । प्रकृति और मनुष्य का द्वैत सामने आता है ।

46. लेकिन नियोजन की यह कमी एक दूसरी शक्ति के उद्भव का भी कारण बनती है - चेतना की शक्ति । इस शक्ति का सरोकार मूलतः उसकी जेनेटिक स्मृति - सूक्ष्म कणों से मनुष्य तक विकास की, अनन्त की स्मृति से है । जेनेटिक स्मृति अन्य प्राणियों में भी रहती है, लेकिन सुषुप्तावस्था में । मनुष्य के उद्भव की खास अवस्था में यह जागृत हो उठती है । चेतना मूलतः क्रियाशील, जाग्रत जेनेटिक स्मृति है । कम्प्यूटर की भाषा में इस स्मृति को हम रीड ओनली मेमोरी (आर.ओ.एम., रोम) कह सकते हैं । प्रकृति और मनुष्य का द्वैत चेतना और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति के द्वैत के रूप में सामने आता है ।

47. ऊपर हमने जिस चेतना का ज़िक्र किया है, वह ज्ञानेन्द्रियों के ज़रिये मस्तिष्क द्वारा हासिल संवेदनात्मक ज्ञान और ऐसे ज्ञान पर आधारित धारणाओं/विचार-प्रणालियों से भिन्न प्रवर्ग है । दरअसल वह मनोविश्लेषण में वर्णित सुषुप्ति/अचेतन अथवा इद की सक्रिय अवस्था के समकक्ष एक प्रवर्ग है । उसी तरह ऊपर हमने जिस जेनेटिक मेमोरी का ज़िक्र किया है, वह रोज़मर्रा की याद्दाश्त अथवा अपने व्यावहारिक जीवन अनुभवों के स्मरण से भिन्न प्रवर्ग है । वैसे व्यावहारिक स्मरण भी एक संश्लिष्ट प्रणाली है । दरअसल मनुष्य के मस्तिष्क में स्मरण की कोई एक प्रणाली (सिस्टम) नहीं - वह कई प्रणालियों का एक अनोखा समुच्चय है जिसमें विस्मरण की प्रणालियाँ भी शामिल हैं । खैर, इस तरह की मेमोरी को जिनका मस्तिष्क प्रायः उपयोग करता है, हम कम्प्यूटर शब्दावली में रैंडम एक्सेस मेमोरी (आर.ए.एम.) कह सकते हैं ।[23]

48. मन चेतना और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति, चेतना और मस्तिष्क की सह-क्रिया (सिनर्जी) है । इन शक्तियों की अन्तःक्रिया स्वभावतः नाना आयामों में अभिव्यक्ति पाती है । वहाँ अनन्त के साथ एकात्म होने की प्रवृत्ति है, और मस्तिष्क द्वारा ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त जानकारियों/सम्बन्धों का संसार भी । 'निरपेक्ष/अमूर्त', अन्तर्मन, सार्विक मानव-मूल्य जैसी श्रेणियों का विकास इसी सह-क्रिया का परिणाम है ।

49. चेतना मनुष्य को अनन्त के साथ एकात्म होने की ओर प्रवृत्त करती है । मानसिक रूप से मनुष्य आरम्भ से ही विभिन्न रूपों में ऐसा करने की - अनन्त होने की कोशिशें करता रहा है । उसकी यही वृत्ति आध्यात्मिक वृत्ति के रूप में जानी जाती है । यह आध्यात्मिकता उसे प्रकृत संसार को देखने की नई दृष्टि देती है ।

50. मानसिक स्तर पर मनुष्य की ये कोशिशें उसकी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति के लिए भी चुनौती बन जाती है । वह न सिर्फ मानसिक तौर पर, बल्कि अपनी मस्तिष्क की शक्ति के ज़रिये भौतिक तौर पर भी इस अनन्त-शक्ति का साक्षात् करने, उसे पाने और ख़ुद स्रष्टा बनने की कोशिश करता रहा है । सका आज तक का इतिहास उसकी इन कोशिशों का भी इतिहास है । आदिकाल से ही वह अमरता की अवधारणा से सम्मोहित (ऑब्सेस्ड) रहा है । संसार का मिथकीय साहित्य इस सम्मोहन का प्रत्यक्ष गवाह है । मनुष्य की जितनी मिथकीय कल्पनाएँ हैं, विज्ञान आज उन्हें लगभग रूपायित कर रहा है । कल के मानसिक सम्मोहन आज की व्यावहारिक उपलब्धियों में साकार हो रहे हैं । विज्ञान और प्रविधि के ज़रिये वह आज अपने आप को मंज़िल के बहुत क़रीब पा रहा है । लेकिन क्या वह इस मंज़िल को पा सकेगा ? या फिर क्या उसे भौतिक रूप से ऐसा लक्ष्य रखना चाहिए ?

51. बहरहाल, भौतिक रूप से अनन्त होने की दिशा में वह एक हद तक अनजाने ही कदम बढ़ाता रहा है । फलतः अध्यात्म और ज्ञान का द्वैत प्रकट होता है । अपने जीविकोपार्जन के प्रयोजनों से प्रेरित होकर ही उसने औज़ारों का विकास-परिष्कार किया, अपने आसपास के संसार को जानने-समझने की कोशिश की । उसे इस बात का अहसास नहीं था कि ऐसा करने के ज़रिये वह क्रमशः अपने आप के कृत्रिम पुनरुत्पादन की दिशा में - प्रकृति की सृष्टि के रूप में मनुष्य से क्रमशः मनुष्य की सृष्टि के रूप में मनुष्य, सृष्टि के मनुष्य से मनुष्य की सृष्टि की ओर कदम बढ़ा रहा है । (प्रसंगवश, कृत्रिम को प्रकृति से मनुष्य की निरपेक्ष स्वतंत्रता के रूप में नहीं देखा जा सकता । वह प्रकृति-प्रदत्त संसाधनों और शक्तियों का मनुष्य द्वारा ज्ञानपूर्वक उपयोग है ।)

52. अपने आप का और इस क्रम में सृष्टि का पुनर्निर्माण - मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है, मनुष्य की ज्ञान-क्षमता का अपरिहार्य विकास-क्रम । उसकी ज्ञान-क्षमता इन्हीं प्रयासों में अंज़ाम पाती है । मनुष्य द्वारा अपनी ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों का मशीनों द्वारा विस्थापन, रोबोटिक्स, कृत्रिम बुद्धि (आर्टिफिशियल इंटेलिजेन्स, ए.आई) का विकास, स्मार्ट वस्तुओं का निर्माण, जेनेटिक इंजीनियरिंग, मानव-क्लोनिंग, निरन्तर उच्च क्षमतावाली पार्टिकल एक्सेलरेटर्स का विकास, आदि उसी मूल वृत्ति की अनिवार्य परिणतियाँ हैं । कम्प्यूटरों ने इस प्रक्रिया को अभूतपूर्व आवेग प्रदान किया है । अब वह माया मानवों और माया ब्रह्माण्डों की डिज़ाइनिंग कर सकता है और उन्हें हासिल करने की दिशा में

बढ़ सकता है । हम पत्थर के औज़ारों से डिज़ाइनर शिशुओं/डिज़ाइनर सृष्टि के ज़माने में आ चुके हैं । जिस दिन मनुष्य ने अपने दो मुक्त हाथों के ज़रिये पत्थर के औज़ारों का निर्माण किया, उसी दिन उसने अपने हाथों के विस्थापन की भी नींव रख दी - पहले हाथों के सहायक के रूप में औज़ारों का निर्णाण हुआ । पुनः काल-क्रम में हाथों को विस्थापित करने वाली मशीनों का आगमन हुआ । आज जब मस्तिष्क की शक्ति, ज्ञान की शक्ति प्रमुख उत्पादक-शक्ति बनती जा रही है, तब वह (मस्तिष्क के सहायक यन्त्रों के विकास से गुजरते हुए) मस्तिष्क के विस्थापन में लगा है । समग्र तौर पर देखें तो मनुष्य के अन्दर क्रियाशील दोनों शक्तियाँ - चेतना-शक्ति और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति - एक-दूसरे को विस्थापित करने में लगी रही हैं । चेतना द्वारा अध्यात्म से स्वतंत्र इच्छा-शक्ति का, और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति द्वारा ज्ञान से चेतना का विस्थापन - यह ज़द्दोज़हद मानव अस्तित्व का अब तक स्थायी तत्त्व रहा है ।

53. इसी ज़द्दोज़हद में मानव अस्तित्व की बहुचर्चित बिडम्बना सामने आती है, और उसका चिरकाल से चला आ रहा नैतिक धर्मसंकट प्रकट होता है । क्या अपनी विकास-प्रक्रिया में मनुष्य अपने जीवन-स्रोतों का विनाश करता जा रहा है ? अगर किसी खगोलीय दुर्घटना में उसका असामयिक अन्त न भी हो, तो क्या अपने जीवन स्रोतों के विनाश के कारण अथवा अपनी वर्चस्व वृत्ति के कारण, वह अकाल-मृत्यु का शिकार होगा ? सभी प्राणियों में हम प्रायः कई श्रेणियाँ पाते हैं । लेकिन होमो सेपियन नामक हमारी प्रजाति इसका अपवाद है । क्या जेनेटिक इंजीनियरिंग के ज़रिये अपनी प्रजाति की विविधता हम स्वयं रचेंगे ? कृत्रिम प्रजनन के द्वारा (आज से कुछ सौ अथवा हजार वर्षों बाद) मनुष्य के हाथों मनुष्य इतना बदल दिया जाएगा कि वह पहचाना भी नहीं जा सके ? (जैसा कि अतीत में हमने अन्नों और पालतू पशुओं के साथ किया ।) और ऐसा होता है तो हर्ज़ ही क्या है ? आख़िर अपने किसी ख़ास रूप-गुण से चिपके रहना हमारी प्रजातिगत जड़ता नहीं है ? और यही जड़ता हमारे विनाश का कारण नहीं बन सकती ? क्या मनुष्य में इस जड़ता का अतिक्रमण करने की क्षमता नहीं ? और अगर है तो वह उसका उपयोग क्यों न करे ?

54. मनुष्य का नैतिक धर्मसंकट कुछ इस तरह प्रकट होता हैः

पहला पक्ष - एक मूर्त अस्तित्व के रूप में मनुष्य की आत्म-पुनरुत्पादक शक्ति एक सापेक्ष शक्ति है । उसे अपने अस्तित्व की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए । अनन्त बनने की कोशिश में वह ख़ुद अपने आत्म-संहार को न्यौता देगा ।

दूसरा पक्ष - मनुष्य का जन्म ही अस्तित्व का अतिक्रमण है । अतिक्रमण ही उसके अस्तित्व की गारंटी है । माना कि वह अनन्त शक्ति से सम्पन्न नहीं हो सकता । लेकिन इस शक्ति से सम्पन्न होने की निरन्तर कोशिश ही उसके अस्तित्व की शर्त है । शिशु के रूप में उसके समय से पूर्व जन्म की क्षतिपूर्ति समय से परे जीने की उसकी लालसा में होती है । अतिक्रमण मनुष्य का स्वभाव है ।

पहला पक्ष - सही है कि मनुष्य में अतिक्रमण की क्षमता है, परन्तु उसका मनुष्यत्व इस बात में है कि वह इस क्षमता के बावज़ूद सचेत रूप से ऐसा न करे । यही मर्यादा है । अगर यह क्षमता न होती तो यह प्रश्न ही नहीं उठता ।

कुल मिलाकर, एक पक्ष मनुष्य को मानसिक रूप से अनन्त के साथ एकात्म कर सृष्टि के तमाम अस्तित्वों की सापेक्ष दिक्काल सत्ताओं का साक्षात् कराता है और मनुष्य को भी अपनी दिक्काल सत्ता में स्थापित करने का यत्न करता है, वहीं दूसरा पक्ष मनुष्य को अपनी दिक्काल सत्ता का अतिक्रमण कर ख़ुद स्रष्टा बनाने का यत्न करता है । एक के केन्द्र में सृष्टि है, सृष्टि के अन्य अस्तित्वों के सहभागी के रूप में मनुष्य है, अन्य अस्तित्वों की स्वीकृति है, सार्विक प्रेमभाव है । दूसरे के केन्द्र में मनुष्य है, अन्य अस्तित्वों की बलि है, वर्चस्व है । एक में मनुष्य बलि देता है, दूसरे में वह बलि लेता है ।

इस तरह, उत्पादन के ज़रिये जीविकोपार्जन के माध्यम से अपने विस्तारित पुनरुत्पादन के क्रम में मनुष्य सदा से इन दबावों का - मर्यादा (अध्यात्म) और अतिक्रमण[24] का सामना करता है । यद्यपि दोनों वृत्तियाँ मनुष्य की अनन्त से एकात्म होने की मूल वृत्ति का ही प्रतिफलन है, तथापि इनकी व्यावहारिक परिणति दो विपरीत दबावों के रूप में सामने आती है ।

55. कोई भी वृत्ति एकआयामी होकर नहीं रहती । अगर हम बाह्य संसार में अन्य अस्तित्वों को स्वीकार करते हैं और उनका सम्मान करते हैं तो यह वृत्ति मानव समाज के भीतर और व्यक्ति के अपने जीवन में भी सार्विक प्रेमभाव में अभिव्यक्ति पाएगी । वहीं दूसरी ओर यदि हम बाह्य संसार में अन्य अस्तित्वों का हनन करते हैं, अतिक्रमण करते हैं, तो मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिपरक सम्बन्धों में भी अतिक्रमण और वर्चस्व की कार्रवाइयाँ होंगी । अगर हम प्रकृति में मनुष्य को श्रेष्ठ और अन्य अस्तित्वों को निम्न मानेंगे, तो अपने समाज में भी श्रेष्ठ-निम्न की श्रेणियाँ बनेंगी और निम्न पर श्रेष्ठ के वर्चस्व के दावे होंगे ।

56. सार्विक, निरपेक्ष, अमूर्त जैसे मानसिक प्रवर्गों के विकास ने जहाँ एक ओर विशिष्ट, सापेक्ष और मूर्त के ज्ञान को जबर्दस्त आवेग प्रदान किया, वहीं उसके नकारात्मक परिणाम भी सामने आये । निरपेक्ष रूप से श्रेष्ठ अथवा निम्न की अवधारणाएँ बनीं - मनुष्य श्रेष्ठ, अन्य प्राणी निम्न, अमुक समुदाय श्रेष्ठ, अमुक निम्न । इसने वर्चस्व वृत्ति को सशक्त वैचारिक आधार प्रदान किया । इतिहास में हम श्रेष्ठ-निम्न का विभिन्न रूपों में साक्षात् करते हैं । भिन्न का एकत्व श्रेष्ठ-निम्न के द्वैत द्वारा विस्थापित होता है । भिन्नता (विविधता) अनन्त के अस्तित्व का ढंग है । श्रेष्ठ-निम्न की अवधारणा वर्चस्व के अस्तित्व का ढंग है ।

57. अतिक्रमण और अध्यात्म के अलावा मनुष्य की एक और वृत्ति है - अनुकरण जो वह प्राणी जगत से विरासत में प्राप्त करता है । हाँ, उसकी विशिष्टता यह है कि वह अनुकरण की प्रक्रिया में प्रयुक्त सामग्रियों/उपकरणों का प्रयोग करते-करते अन्वेषण की दिशा में आगे बढ़ जाता है । अनुकरण के ज़रिये अन्वेषण का पुनः सार्विकरण होता है । गुफाओं और पक्षियों के घोंसलों का अनुकरण कर उसने मिट्टी और पत्तों से अपने प्रारम्भिक घरों का निर्माण किया । मिट्टी और खर-पत्तों का इस्तेमाल करते-करते वास्तुशिल्प, मूर्तिकला, बर्तन-निर्माण आदि का उसने अन्वेषण किया । फिर अनुकरण के ज़रिये इस अन्वेषण का भी सार्विकरण हुआ । अनुकरण-अन्वेषण-अनुकरण की यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है ।

58. इस तरह, कुल मिलाकर मनुष्य के अस्तित्व के साथ तीन वृत्तियाँ अभिन्न रूप से जुड़ी हैं - अनुकरण, अतिक्रमण और अध्यात्म । इन्हीं वृत्तियों के आपस में घुले-मिले अस्तित्व की वज़ह से हर काल में हमारा सामना तीन तरह के लोगों से होता है - अन्वेषक/आध्यात्मिक, अनुकर्ता और अपकर्ता । अथवा संन्यासी/अन्वेषक, गृहस्थ और आवारा । पहले और तीसरे किस्म के लोगों की तादाद काफ़ी कम होती है । इनका एक-दूसरे में रूपान्तरण भी होता रहता है । अक्सर आवारा किस्म के लोग भी अन्वेषक अथवा आध्यात्मिक होते देखे गये हैं ।

59. अनुकरण, अतिक्रमण और अध्यात्म की मूल वृत्तियाँ और उनका एक-दूसरे में रूपान्तरण समाज के अन्दर, और एक व्यक्ति के अन्दर भी, निरन्तर चलने वाली क्रिया है । प्रत्येक व्यक्ति अपनी अलग-अलग जीवन-स्थितियों में अपने ढंग से उसका साक्षात् करता है ।

ख. भौतिक अस्तित्व

60. मनुष्य के अस्तित्व की एक सामान्य चर्चा के बाद हम अब उसके भौतिक और चेतन पक्ष की अलग से थोड़ी चर्चा करेंगे । पहले भौतिक पक्ष ।

अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य अपने विस्तारित आत्म-पुनरुत्पादन के लिए प्राकृतिक परिवेश का उपयोग मात्र नहीं करता, बल्कि श्रम के औज़ारों के विकास के ज़रिये उत्पादन करता है और इस प्रक्रिया में प्रकृति के साथ तथा आपस में ख़ास सम्बन्ध कायम करता है । इसके साथ ही वह प्रकृति को बदलने और सामाजिक सम्बन्धों के अनजाने सफर पर भी कूच कर जाता है । उसके अस्तित्व का यही भौतिक आधार है ।

61. मनुष्य के इस भौतिक अस्तित्व के चार कारक हैः श्रम, भूमि (स्पेस), विनिमय (वस्तु और विचार दोनों का) और ज्ञान । (भौतिक अस्तित्व के ये चारो कारक अत्यन्त प्राथमिक रूप में प्राणिजगत में भी पाये जाते हैं ।) चारो कारक अन्तर्गुंथित होते हैं । हाँ, अन्तर्गुंथित होने के बावज़ूद उत्पादन की अलग-अलग प्रणालियों में कोई एक कारक केन्द्रीय भूमिका ग्रहण कर लेता है । तथापि अन्य कारक खत्म नहीं हो जाते, बल्कि केन्द्रीय भूमिका ग्रहण कर लेने वाले कारक के साथ विशिष्ट सम्बन्ध में बँधकर क्रियाशील रहते हैं ।

62. एक उत्पादन विधि से दूसरी उत्पादन विधि में संक्रमण के दौरान ज्ञान और विनिमय निर्णायक भूमिका अदा करते हैं । नये आधार पर चारो कारकों के पुनर्संतुलन की प्रक्रिया काफ़ी उथल-पुथल भरी होती है और प्रायः शताब्दियों तक चलती रहती है । इन चारो कारकों के अनुरूप मानव समाज में मूलतः चार श्रेणियाँ हर उत्पादन विधि में सामने आती हैं और उनका एक-दूसरे में रूपान्तरण भी होता रहता है । यह मानव समाज का सबसे आधारभूत श्रेणी-विभाजन है ।

63. मनुष्य ने अब तक अपना सबसे लम्बा (कई लाख वर्षों का) समय फल संग्राहक और शिकारी के रूप में बिताया है । लम्बी कालावधि मनुष्य के अर्जित गुण उसकी जेनेटिक संरचना का अंग बन जाते हैं । इस लिहाज़ से यह काल (कुल मिलाकर पाषाण युग) काफ़ी महत्वपूर्ण है । इस काल में श्रम ख़ुद मानव जीवन के अस्तित्व की शर्त था । जनों (गणों) के विस्तारित पुनरुत्पादन का माध्यम

था फल संग्रह और शिकार । भूमि का मतलब जनों का अपना-अपना जन-क्षेत्र था । बोलियाँ विकसित हो रही थीं । वस्तु-विनिमय अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था और जनों के बीच युद्ध भी होते रहते थे । मनुष्य वनों, पत्थरों, औज़ारों, प्राणियों, वनस्पतियों और प्राकृतिक शक्तियों का वर्गीकरण और अपने जीविकोपार्जन में उनका उपयोग करने लगा था । यही जनों का ज्ञान-तत्व था । उनकी जीवन-दृष्टि 'मैज़िक'[25] में अभिव्यक्त होती थी ।

64. कृषि आधारित उत्पादन प्रणाली में (नवपाषाण और धातु युग में) भूमि जनों के अस्तित्व की शर्त बन जाती है । क़रीब दस हजार वर्षों तक वह इतिहास का क्रियास्थल बनी रही । भूमि का अर्थ जनजातीय क्षेत्रों की जगह अब नदी-घाटी क्षेत्र और खेती लायक ज़मीन हो गया । जब जनों के विस्तारित पुनरुत्पादन में शिकार और फल-संग्रह अपर्याप्त होने लगा, तब कृषि ने खेती-आधारित मानव-समुदायों के विस्तारित पुनरुत्पादन को ज़बर्दस्त आवेग प्रदान किया । स्थायी बस्तियाँ बसने लगीं, ग्रामों एवं नगरों का प्रादुर्भाव हुआ और आबादी का तेजी से विकास हुआ । कृषि श्रम के रूप में श्रम ने नया रूप ग्रहण किया । अनुकरण के ज़रिये अन्य जन भी इस प्रक्रिया में शामिल हुए । श्रम की मांग बढ़ी और शिकार तथा फल-संग्रह के ज़रिये जीवन-यापन करने वाले जनों को ज़बरन दास अथवा भूदास के रूप में नयी उत्पादन प्रणाली में शामिल किया गया । नदी घाटी क्षेत्रों में विशाल साम्राज्यों का उदय हुआ । मुद्रा के आगमन ने विनिमय को नया आधार और आवेग प्रदान किया और व्यापारिक पूंजी का उदय हुआ । बोलियों से भाषाओं और लिपियों के विकास ने मानव समाज को एक नया आयाम दिया । धातुओं, पशुओं, कृषि उपकरणों, कृषि और पशुपालन सम्बन्धी कार्यों तथा उत्पादों, मौसम तथा ज्योतिष विज्ञान, विभिन्न हस्तशिल्पों और कलाओं आदि के क्षेत्र में ज्ञान का विस्फोट हुआ । मैज़िक को अपने में समाहित करते हुए पंथ अब खेतिहर समुदायों की जीवन-दृष्टि का निरूपण करने लगे । जनों के बीच युद्ध का स्थान अब साम्राज्य निर्माण के लिए युद्ध और पंथ-युद्ध ने ले लिया ।

65. जब कुछेक खेतिहर समुदायों के लिए कृषि भी विस्तारित पुनरुत्पादन के लिए अक्षम होने लगी तो विनिमय उन समुदायों के अस्तित्व की शर्त बन गया । क़रीब चार सौ वर्षों से चली आ रही इस प्रणाली में विनिमय ने पूंजी के सामाजिक सम्बन्ध में अपनी सर्वोच्च अभिव्यक्ति पायी । बाज़ार और भाषाई राष्ट्र-राज्य सामने आये । उजड़ती श्रम के रूप में श्रम ने नया रूप ग्रहण किया । भूमि का मतलब अब राष्ट्र-राज्य हो गया । आधुनिक भाषाओं का विकास हुआ और वैज्ञानिक क्रान्ति ने ज्ञान की सभी शाखाओं में अभूतपूर्व विकास को अंज़ाम दिया । जो खेतिहर समुदाय अब भी कृषि के ज़रिये अपना पुनरुत्पादन कर रहे थे, उन्हें औपनिवेशिक प्रणाली के तहत बलपूर्वक विनिमय की इस प्रणाली में शामिल किया गया । यह युग राष्ट्रीय युद्धों, विश्व साम्राज्यवाद और विश्व युद्धों का भी युग रहा । इस युग की जीवन-दृष्टि विभिन्न सेक्यूलर विचार-प्रणालियों में अभिव्यक्त हुई ।

66. आज की ज्ञान-आधारित प्रणाली में ज्ञान अब विनिमय के अस्तित्व की शर्त बन गया है । इस युग को आये मुश्किल से पच्चीस वर्ष हुए हैं, लेकिन यह प्रणाली अभूतपूर्व रफ़्तार से विकास-लाभ कर रही है । पुरानी उत्पादन प्रणाली में रह रहे समुदायों को इस ज्ञान-प्रणाली में शामिल करने की

ज़बर्दस्त होड़ मची है और वे शामिल भी हो रहे हैं । भूमि का अर्थ अब पूरी धरती - प्लेनेट अर्थ और अन्तरिक्ष है । मीडिया और साइबर लोक इतिहास का नया क्रिया-स्थल बन रहा है । सिर्फ जनों, खेतिहर समुदायों और राष्ट्र-राज्यों का नहीं, बल्कि पूरी मानवजाति का पुनरुत्पादन इस प्रणाली का लक्ष्य है । इसके पास उसकी क्षमता है, लेकिन साथ ही सम्पूर्ण विनाश की क्षमता भी है । मस्तिष्क की शक्ति - विचार-शक्ति ने इस प्रणाली में प्रमुख उत्पादक शक्ति की भूमिका ले ली है । कम्प्यूटर भाषाओं का निरन्तर विकास-परिष्कार हो रहा है, और इंटरनेट के ज़रिये एक विश्वव्यापी (ग्लोबल) नेटवर्क समाज का प्रादुर्भाव हुआ है । आध्यात्मिकता (स्पिरिचुअलिटी) ही इस ज्ञान-युग की जीवन-दृष्टि हो सकती है ।

67. युगों के बीच चीन की दीवार नहीं होती । एक युग से दूसरे युग में संक्रमण एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है और मानव समाज अनेक स्तरों पर एक साथ जीता है । यहाँ हमारा उद्देश्य इन चीजों पर विस्तृत चर्चा का नहीं है, क्योंकि इन पर अनेक गहन अध्ययन पहले से मौज़ूद हैं ।

68. किसी भी काल में कुछेक समुदाय ही नयी उत्पादन विधि की ओर कदम बढ़ाते हैं । अगर वह विधि जीविकोपार्जन के लिहाज़ से अधिक सक्षम साबित होती है, तो शीघ्र ही वह पूरी दुनिया को अपने आग़ोश में ले लेती है । कई समुदाय अनुकरण के ज़रिये उससे जुड़ जाते हैं, तो बाकी को बलपूर्वक उसमें शामिल कर लिया जाता है । 'निम्न' और 'पिछड़े' पर 'उच्च' और 'विकसित' का वर्चस्व नया-नया रूप अख़्तियार करता रहता है ।

69. वर्चस्व, उत्पीड़न और विषमता के ख़िलाफ, ज़ाहिर है, समय-समय पर हर युग में बड़े-बड़े आन्दोलन/प्रयास/वैकल्पिक प्रयोग आदि भी होते रहे हैं । देश-काल की भिन्नताओं के कारण इन आन्दोलनों की रूप भी बदलता रहा है । कुल मिलाकर ऐसे आन्दोलन विफल ही होते रहे हैं । जहाँ वे सफल रहे, वहाँ भी उन्होंने नये वर्चस्व-उत्पीड़न-विषमता का मार्ग ही प्रशस्त किया है । मानवजाति आज तक वर्चस्व, उत्पीड़न और विषमता से मुक्त उत्पादन प्रणाली विकसित नहीं कर पायी है । एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को यथार्थ रूप नहीं दे सकी है जहाँ बिना वर्चस्व के भिन्नताओं की स्वीकृति हो, 'श्रेष्ठ-निम्न' का भाव न हो । तब क्या ऐसे प्रयास ही बेमानी हैं ? क्या मनुष्य वर्चस्व-बर्बरता से युक्त उपलब्धियों के रूप में प्रगति के लिए अभिशप्त है ?

70. मनुष्य का अस्तित्व दो स्तरों पर क्रियाशील होता है । एक, मानव जाति के रूप में उसका समग्र अस्तित्व और दूसरा जनों, खेतिहर समुदायों, जातियों, राष्ट्रों, वर्गों, तबकों, पेशागत समुदायों, कुल-परिवारों और व्यक्तियों के रूप में उसका अस्तित्व । उसके समग्र अस्तित्व की आकांक्षाएँ ही इतिहास में शानदार विफलताओं के रूप में सामने आती हैं, जबकि सफलताएँ उसके खण्डित अस्तित्व का मापदण्ड हैं । इन विफलताओं के बिना मानव-अस्तित्व की कल्पना ही एक खण्डित कल्पना है । अस्तित्व के पूरे स्पेस पर सफलताओं के वर्चस्व का अर्थ है एक जाति के रूप में मनुष्य की मौत । इसलिए मानव समाज सफलताओं को इस बात की इज़ाज़त नहीं देता । वह अपने नैतिक मूल्य इन्हीं विफलताओं से ग्रहण करता है और उसके प्रतीकों को मानवता के स्मारकों के रूप में संजोकर रखता है ।

सफलताएँ क्षणिक होती हैं: उनकी उम्र तब तक होती है, जब तक दूसरी सफलताएँ उन्हें बेदख़ल न कर दें । विफलताएँ चिरस्थायी हैं, उनका प्रभाव मानव समाज हमेशा महसूस करता है ।

71. इसलिए, सफलता-विफलता को दो परस्पर विरोधी प्रवर्गों के रूप में नहीं देखा जा सकता । दोनों ज़रूरी हैं । एक दूसरे को बेदख़ल नहीं करता । समाज के लिए गांधी की विफलता भी उतनी ही ज़रूरी है, जितनी बिल गेट्स, स्टीव ज़ोब्स, ज़िम क्लार्क या ज़ेफ़ बेज़ोस[26] आदि की सफलताएँ । इन दोनों प्रवर्गों की तुलना ही बेमानी है ।

72. मनुष्य का खण्डित अस्तित्व भी एक सच है । मनुष्य, मनुष्य के रूप में नहीं जीता । वह छात्र, शिक्षक, श्रमिक, किसान, व्यवसायी, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक आदि के रूप में ही जीवनयापन करता है । (यहाँ तक कि एक व्यक्ति भी अपने भीतर पहचान की कई परतें लिए रहता है ।) इन रूपों में निरन्तर अपने काम को बेहतर करते जाना और बेहतरी के प्रयास में सफल होना ही उद्यमिता है । इस उद्यमिता के बिना भी मुनष्य की कल्पना नहीं की जा सकती । लेकिन इसके साथ अगर मनुष्यत्व न रहे तो सफलता की कोशिशें किस तरह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में गलत रास्तों पर - नशाखोरी, धोखाधड़ी, बर्बरता की ओर ले जाती हैं, इसका अन्दाज़ा हम हाल के ही कई ऐसे 'सफल' नायकों (?) के क्रियाकलापों से लगा सकते हैं अतीत के ऐसे उदाहरणों की ज़रूरत ही नहीं ।

विफलताएँ इसलिए विफलताएँ हैं कि जिन प्रयासों के वे परिणाम हैं, वे प्रयास कभी समाप्त होने वाले नहीं हैं । इन प्रयासों का मूल्यांकन सफलता-विफलता के आधार पर नहीं किया जा सकता । मनुष्यता की दावेदारी एक निरन्तर क्रिया है ।

बहरहाल, मनुष्य आज तक 'आदमी बनने' और अपने निजी-पेशागत जीवन में सफल होने के बीच संतुलन कायम करने में कामयाब नहीं रहा है । अगर वह मनुष्य बनने की कोशिश करता है, तो प्रायः अपने निजी-खण्डित जीवन में असफल हो जाता है, और निजी-खण्डित जीवन में सफल होने के लिए उसे मानवता से स्खलित होना ज़रूरी लगता है - मनुष्य का अस्तित्व इस चिरन्तन द्वन्द्व से निरन्तर क्षत-विक्षत होता आया है ।

73. बहरहाल, जब मनुष्य का जीवन कमोबेश स्वयं सम्पूर्ण था, तब उसे अपना अस्तित्व ही पराया लगता था; किसी अदृश्य, अनन्त शक्ति की अमानत जिसे वह पुनः उसी शक्ति को समर्पित कर देना चाहता था । बलि के रूप में अस्तित्व । औद्योगिक युग में, जब मनुष्य का जीवन (निरन्तर बढ़ते विशिष्टिकरण/श्रम-विभाजन के कारण) अधिकाधिक खण्डित होता गया, तब वह अधिकाधिक उपभोग के ज़रिये अपने अस्तित्व के अभाव को भरने की कोशिश करने लगा । अनन्त उपभोग के रूप में अस्तित्व ।

74. उपर्युक्त संदर्भों की पृष्ठभूमि में हम एक नज़र उन यथार्थ स्थितियों पर डालना चाहेंगे जिनकी विरासत के साथ और जिनके बीच से आज का ज्ञान समाज विकसित हो रहा है ।

सर्वप्रथम, मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध में ।

क. मानवजाति के पूरे इतिहास में जितने वनक्षेत्र का विनाश हुआ है, उसका क़रीब आधा 1950 ई. से 1990 ई. के बीच के महज़ 40 वर्षों में हुआ । विश्व के उष्णकटिबन्धीय जंगलों का आधा समाप्त हो चुका है और बाकी बचे आधे क्षेत्र की हालत भी खस्ता है । ज्ञातव्य है कि इसी क्षेत्र में विश्व की कुल ज्ञात प्रजातियों का पचास फीसदी वास करती हैं ।

ख. आज प्रति घण्टे तीन (प्रतिदिन 74 और प्रतिवर्ष 27,000) प्रजातियों का विनाश हो रहा है । अनुमानतः धरती पर आज भी तीन करोड़ प्रजातियाँ वास करती हैं, जिनमें से महज़ चौदह लाख प्रजातियों की पहचान ही हो सकी है । इन प्रजातियों का बीस फीसदी अगले तीन दशकों में लुप्त हो सकता है ।

ग. 1970 से 1990 के बीच के महज़ बीस वर्षों में क़रीब 12 करोड़ हेक्टेयर मरुभूमि का विस्तार हुआ । यह क्षेत्र चीन में अभी खेती की जानेवाली ज़मीन के क्षेत्र से भी ज़्यादा है । इसी बीच 480 अरब टन मिट्टी (टॉप स्वायल) बह गई - यह मात्रा भारत के कुल फसल क्षेत्र की मिट्टी की मात्रा के बराबर है ।

घ. व्यावसायिक ऊर्जा की विश्वव्यापी ख़पत में 1860 ई. से 1985 ई. के बीच 60 गुनी वृद्धि हुई है । इस ऊर्जा का अधिकांश हिस्सा उन स्रोतों से आता है जिनका पुनर्नवीकरण नहीं हो सकता ।

ङ. विश्व में प्रतिदिन 10 लाख टन हानिकारक कचरा जमा होता है । इस कचरे में औद्योगिक दुनिया का हिस्सा 90 फीसदी है ।

च. 1949 से 1968 के बीच संयुक्त राज्य अमेरिका में नाइट्रोज़न उर्वरक के इस्तेमाल में 648 प्रतिशत की वृद्धि हुई । इसी अवधि में जहाँ आबादी में 34 फीसदी और प्रति व्यक्ति अनाज उत्पादन में 11 फीसदी की वृद्धि हुई, वहीं प्रति टन फसल, नाइट्रोज़न उर्वरक के इस्तेमाल में 405 फीसदी की भारी वृद्धि दर्ज़ की गई । नतीज़ा झीलों, नदियों और अन्य जल स्रोतों का प्रदूषण ।

अब कुछ आंकड़े मानव समाज के संदर्भ मेः

क. आज से महज़ 250 वर्ष पूर्व (1750 ई. में) आज के अल्प विकसित देशों में प्रति व्यक्ति आय आज के विकसित देशों की प्रति व्यक्ति आय से कुछ ज़्यादा ही थी । (1960 ई. के डॉलर और कीमतों में आज के विकसित देशों में प्रति व्यक्ति आय तब थी 180 डॉलर, जबकि आज के अल्प विकसित देशों में यह आय थी 180 से 190 डॉलर के बीच ।) 1980 में यह बढ़कर क्रमशः 3000 डॉलर और 410 डॉलर हो गई । दूसरे शब्दों में, 1750 में दोनों क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति आय का अनुपात लगभग बराबर था, जबकि 1980 में वह 7 : 1 हो गया । आज औद्योगिक देशों में रहने वाली विश्व की आबादी का महज़ 25 फीसदी विश्व उत्पादन के 75 फीसदी का उपभोग करती है ।

ख. औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप, 1750 ई. से लेकर 1980 ई. के बीच मैन्युफ़ैक्चरिंग उत्पाद में 80 गुना से भी अधिक बढोत्तरी हुई । 1970 से 1990 के बीच विश्व औद्योगिक उत्पादन दो गुना

हो गया । अगर वृद्धि दर 3 फीसदी हो तो हर 23 साल में, और अगर वृद्धि दर 4 फीसदी हो तो प्रत्येक 18 साल में औद्योगिक उत्पादन दुगुना हो जाएगा ।

ग. तीसरी दुनिया के व्यक्ति की तुलना में एक उत्तर अमेरिकी व्यावसायिक ऊर्जा का औसतन 40 गुना अधिक खपत करता है । उप-सहाराई अफ़्रीका और विकसित देशों के बीच यह अनुपात तो 1 : 80 है ।

घ. 1987 में प्रति व्यक्ति कार्बन डाइ-ऑक्साइड के निस्सरण में अमेरिका के 20 फीसदी ग़रीबों की तुलना में 10 फीसदी धनिकों का योगदान ग्यारह गुना अधिक था ।

ङ. 1960 से 1991 के बीच विश्व आमदनी में 20 फीसदी धनिकों का हिस्सा 70 फीसदी से बढ़कर 85 फीसदी हो गया और निर्धनतम 20 फीसदी का हिस्सा 2.3 फीसदी से घटकर मात्र 1.4 फीसदी रह गया । इस तरह विश्व आमदनी में इन वर्षों के दौरान घनियों और ग़रीबों का अनुपात 30 : 1 से बढ़कर 61 : 1 हो गया ।

च. 1993 में विश्वव्यापी सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) था 230 खरब डॉलर जिसमें विकसित औद्योगिक देशों का हिस्सा था 180 खरब डॉलर और विकासशील देशों का (जहाँ विश्व की आबादी का अस्सी फीसदी वास करती है) मात्र 50 खरब डॉलर ।

छ. विश्व उत्पादन के 25 फीसदी का नियंत्रण अपनी 5 लाख से भी अधिक विदेशी सहायक कम्पनियों के साथ 60,000 बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ करती हैं ।

ज. मात्र 358 लोगों की कुल सम्पत्ति विश्व आबादी की निर्धन 45 फीसदी की - यानी 2.3 अरब लोगों की - सम्मिलित आमदनी के बराबर है (1993-94) ।

झ. मैन्युफ़ैक्चरिंग-औद्योगिक समाज के पूरे विकास-क्रम में देसी जनों के सामूहिक नरसंहार, लोमहर्षक दास-व्यापार, आक्रामक औपनिवेशिक मुहिमों और लूटों, रंगभेद, तानाशाहियों और सैनिक हस्तक्षेपों, विश्व-युद्धों और परमाण्विक महाविनाश, आदि रूपों में बर्बरताएँ तो वर्णनातीत हैं ।

विनिमय आधारित औद्योगिक समाज की विभिन्न क्षेत्रों में चमत्कारिक उपलब्धियों के साथ-साथ मौज़ूद वर्चस्व-विषमता-बर्बरता की उपर्युक्त संक्षिप्त झलक के बाद इस पृष्ठभूमि में अभूतपूर्व गति से विकसित होते ज्ञान समाज पर हम एक विहंगम दृष्टि डाल सकते हैः

क. सन् 2000 के अन्त तक वेब आबादी 45 करोड़ तक जा पहुँचने का अनुमान है । वेब पृष्ठों की संख्या अभी 80 करोड़ है जो हर साल दुगुनी होती जा रही है ।

ख. 2000 ई. के अन्त तक कुल ई-कॉमर्स राजस्व 233 अरब डॉलर होने का अनुमान है जो 2003 ई. में बढ़कर 1400 अरब डॉलर हो जाएगा । इस साल के अन्त तक कुल ई-कॉमर्स में बिज़नेस-टु-बिज़नेस (बी2बी) ई-कॉमर्स का हिस्सा 75 फीसदी (184.85 अरब डॉलर) तक चले जाने की उम्मीद व्यक्त की जा रही है ।[27]

ग. सूचना और संचार क्रान्ति ने अवसरों का एक नया संसार उद्घाटित किया है और इन अवसरों का उपयोग करने वाले उद्यमियों की एक नई श्रेणी भी तेजी से विस्तार पा रही है । बेडरूम से लेकर व्यवसाय और सत्ता-राजनीति तक, कार्यस्थलों से लेकर फ़ुर्सत के क्षणों तक लोगों की जीवनशैली, जीवन जीने का अंदाज़ बदल रहा है । एक सूचना अथवा सूचनाओं का समूह जब तक अपनी जगह बनाता है, तब तक दूसरी सूचना अथवा सूचनाओं का समूह आ खड़ा होता है । या तो पहले को पूरी तरह बेदख़ल करता या फिर उसे परिष्कृत करता । अनुसंधान एक निरंतर क्रिया है और कोई ज्ञान अंतिम नहीं । यह अनुसंधान-चालित विश्व है ।

घ. नए-नए डॉट-कॉम अरबपतियों के उदय के साथ-साथ सूचना, संचार और मनोरंजन (आइ.सी.ई) की बड़ी-बड़ी कम्पनियों के विलय से नए-नए सूचना साम्राज्यों का प्रादुर्भाव हो रहा है (उदाहरणस्वरूप, हाल ही में अमेरिका ऑनलाइन और टाइम वार्नर का विलय) । सूचनाओं पर वर्चस्व की होड़, उत्पादों की बिक्री से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-राजनीति तक में, सूचनाओं के चुनिंदा, आक्रामक उपयोग, सूचनाओं का सोपान (हायरार्की), सूचनाओं का नित नवीकरण और द्रुत सम्प्रेषण - समूचा विश्व आज इस अभूतपूर्व हलचल से गुजर रहा है । सूचनाओं के आम प्रसार के साथ-साथ सूचनाओं के चुनिंदा हमले - कभी छुपे, कभी खुले - निरन्तर चलते रहते हैं । उनका शिकार कभी कोई बच्चा हो सकता है, कोई प्रतिद्वन्द्वी कम्पनी हो सकती है, तो कभी कोई देश, समुदाय, अथवा यहाँ तक कि प्रतिद्वन्द्वी अनुसंधान और सूचनाएँ भी । सूचनाओं के वायवीय लोक में कुछ भी ठोस नहीं । प्रायः विभिन्न सूचना-केन्द्रों से जारी सूचनाएँ जितना कुछ बताती हैं, उतना ही छिपाती भी हैं ।

ङ. चंचल सूचनाओं के बीच ज़रूरी और उपयोगी सूचनाओं को निकालना व्यक्ति के बुद्धि-विवेक की परीक्षा लेता है । साथ ही सूचनाओं की यह भीड़ जालसाज़ी, धोखाधड़ी, प्रायोजित अनुसंधानों/सूचनाओं का स्पेस भी मुहैय्या करती हैं ।

च. यह नया लोक वर्चस्व और श्रेष्ठता के अपने नए मानदण्ड भी लेकर आता है । अगर आप मीडिया अथवा साइबरलोक में नहीं हैं तो आप बस नहीं हैं । मनुष्य का भौतिक अस्तित्व इतिहास के लम्बे विकास-क्रम में आज माया-अस्तित्व में विनीन हो रहा है । आख़िर वह भी ब्रह्माण्ड-लोक के वेब पर एक पृष्ठ ही तो है !

वेब पर व्यक्ति की उपस्थिति उसकी छवि की उपस्थिति है । प्रायः व्यक्ति के प्रोफ़ाइल में वैसी ही सूचनाएँ रहती हैं जो उसकी वांछित छवि की पुष्टि कर सकें । साइबरलोक में व्यक्ति पहले तो पनी छवि में रूपान्तरित होता है, फिर वह छवि उसे अपनी क़ैद में ले लेती है - छवि-निर्माण से लेकर छवि के गुलाम तक । बहरहाल, व्यक्ति सूचनाओं के समूह भर नहीं होता । वह सिर्फ सूचनाओं में नहीं जीता, बल्कि अपनी चेतना में भी जीता है । सूचनाओं में वह अपनी छवि का साक्षात् कर सकता है, अपने आप का, अपने आत्म का नहीं । यह तो चेतना में ही संभव है । लेकिन मनुष्य के चेतन अस्तित्व पर चर्चा करने से पहले ज्ञान पर कुछ और ।

ग. ज्ञान

75. इस पूरे प्रकरण में 'नॉलेज़' शब्द के लिए 'जानकारी' की जगह आम तौर पर प्रचलित 'ज्ञान' शब्द का इस्तेमाल किया गया है । वैसे भारतीय चिन्तन परम्परा में ज्ञान का प्रयोग सार्विक भाव के उदय के लिए किया जाता रहा है । यह ज्ञान पूंजी कदापि नहीं हो सकती । इसे हासिल करने की कोई वैज्ञानिक-तार्किक विधि नहीं । इसी तरह जानकार और ज्ञानी में भी फ़र्क किया जाता है ।

विद्या भी 'नॉलेज़' के लिए उपयुक्त शब्द नहीं है । विद्या अध्यात्म (ज्ञान) और जानकारी का समुच्चय है । सृष्टि और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अध्यात्म और अध्ययन/कर्म के समन्वय से ही विद्या की विभिन्न शाखाओं का प्रादुर्भाव हुआ है और होता रहेगा । यह विद्या भी खरीद-बिक्री की चीज नहीं, बल्कि बांटने की चीज है, वह पूंजी नहीं हो सकती ।

गीता में जिन तीन किस्म के ज्ञानों का ज़िक्र किया गया है, यह ज्ञान उनमें से पहले किस्म का सात्विक ज्ञान (सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते । अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।) नहीं है । यह ज्ञान राजस ज्ञान (पृथकत्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान । वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।) के समकक्ष एक प्रवर्ग है । किसी एक कार्यरूप का बन्दी हो जाना और उसी स्थिति से अन्य सारे रूपों को देखते-परखते रहना तीसरे किस्म का तामस ज्ञान (यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम । अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।।)[28] कहा गया है । यह तीसरे किस्म का ज्ञान भी प्रायः प्रचुर मात्रा में पाया जाता है ।

बहरहाल, इन स्पष्टीकरणों के साथ यह कह देना ज़रूरी है कि प्रस्तुत विवरण में ज्ञान (नॉलेज़) का प्रयोग जानकारी के अर्थ में किया गया है । इसी अर्थ में ज्ञान शब्द आजकल प्रचलित भी है ।

76. ज्ञान भेद की क्रिया है । पहले अपने और दूसरे का भेद, फिर भेदों की अनन्त श्रृंखला । अपने और दूसरे का भेद जानने के बाद दूसरे को जानने की कोशिश । दूसरे का ज्ञान दूसरे पर अधिकार और शक्ति देता है । इस प्रकार ज्ञान वर्चस्व की क्रिया बन जाता है । वर्चस्व सर्वग्रासी होता है और वह स्तरीकरण को अंज़ाम देता है । इस तरह भेद से शुरू होकर ज्ञान स्तरीकरण पर खत्म होता है । स्तरीकरण भेद का निषेध है । इसीलिए ज्ञान का निषेध भी । यही ज्ञान का चक्र है - भेद → वर्चस्व → स्तरीकरण ।

77. मनुष्य अनुकरण करनेवाला प्राणी है और अन्वेषण करनेवाला भी । ये मस्तिष्क की दो ऐसी क्रियाएँ हैं जिनकी जड़ें यूँ तो हमारी जीन में ही मौज़ूद हैं, फिर भी जिन्हें हमारे सामाजिक व्यवहार ने काफ़ी मज़बूती प्रदान की है । इन विशिष्टताओं के साथ हमारा मस्तिष्क भी लाखों वर्षों के जेनेटिक विकास का नतीजा है ।

बहरहाल, मनुष्य अनुकरण करता है और अन्वेषण करता है । अन्वेषण भेदों की एक नई श्रृंखला का उद्घाटन है - एक नये ज्ञान-समूह का, नये भेदों का उत्थान । फिर वही चक्रः नये भेद → नया वर्चस्व → नया स्तरीकरण । सामाजिक रूप से उपयोगी किन्तु भिन्न होने की सचेत क्रिया ही अन्वेषण है । अनुकरण के ज़रिये अन्वेषण का सार्विकरण अन्वेषण का अन्त है ।

78. अस्तित्व भिन्नता है । आज के ज्ञान युग में निरन्तर भिन्न होने की अन्तहीन क्रिया - प्राकृतिक भिन्नता अथवा बाह्य कारकों से उत्पन्न भिन्नता ही नहीं, बल्कि भिन्न होने की सचेत कोशिश (दूसरे शब्दों में ज्ञान) व्यवसायों, समूहों, संस्थाओं आदि के अस्तित्व की पूर्व शर्त है । भिन्नता की कोई सीमा नहीं, इसीलिए ज्ञान की भी कोई सीमा नहीं ।

ज्ञान का एक चक्र (भेद - वर्चस्व - स्तरीकरण) अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग समय लेता है । समग्रतः यह समय निरन्तर घटता जा रहा है (इंटरनेट ब्राउज़र सॉफ़्टवेयर के क्षेत्र में तो यह चक्र तीन से छः महीने में ही पूरा हो जाता है । इसी क्षेत्र में नेटस्केप और माइक्रोसॉफ़्ट के बीच कड़ी प्रतिस्पर्धा हाल के दिनों में बहुचर्चित कानूनी लड़ाई का कारण बनी जिसमें माइक्रोसॉफ़्ट को शिकस्त खानी पड़ी है ।) अनुसंधान एवं विकास संस्थाएँ, शैक्षणिक प्रतिष्ठान, प्रतिस्पर्धी थिंक टैंक्स विभिन्न क्षेत्रों में निरन्तर नये भेदों के उत्खनन-अन्वेषण में लगे रहते हैं । ज्ञान का एक चक्र पूरा होते-न-होते दूसरा चक्र (नये भेद - नया वर्चस्व - नया स्तरीकरण) शुरूहो जाता है, और यह क्रिया अन्तहीन रूप से चलती रहती है । सामान्य उपभोक्ता सामग्रियों, मनोरंजन के उत्पादों, विचारों, संस्थाओं आदि से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में यह क्रिया बेरोकटोक जारी है ।

79. ज्ञान की मूल इकाई सूचना है । सूचना के निम्नलिखित स्रोत हैः

क. ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त सूचनाएँ - जैसा कि सर्वविदित है, विभिन्न प्राणियों की ज्ञानेन्द्रियों की क्षमता भिन्न-भिन्न है । कालक्रम में मनुष्य ने इन ज्ञानेन्द्रियों की क्षमता (अपनी दृश्य-शक्ति, श्रवण-शक्ति, घ्राण-शक्ति, स्वाद-शक्ति और स्पर्श-शक्ति) बढ़ानेवाले उपकरण विकसित कर लिए हैं और वैज्ञानिक तकनीकी क्षेत्रों में तो इन ज्ञानेन्द्रियों का कार्य इन उपकरणों के हवाले कर दिया गया है । ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त सामान्य सूचनाओं की जगह इन उपकरणों से प्राप्त सूचनाओं ने ले ली है । इन उपकरणों का भी निरन्तर परिष्कार होता रहता है, और प्रत्येक परिष्कार सूचनाओं का नया भण्डार भी लेकर सामने आता है । शक्तिशाली माइक्रोस्कोप, टेलीस्कोप, सेंसर्स, रेडियो तरंगों का अध्ययन करनेवाले उपकरण आदि का परिष्कार सिर्फ इन उपकरणों का परिष्कार नहीं होता, वह हमें नये संसार का साक्षात् भी कराता है ।

ख. कर्म - कालक्रम में मनुष्य ने अपनी कर्मेन्द्रियों की क्षमता बढ़ानेवाले उपकरण विकसित कर लिए हैं और बहुतेरे कार्यों को - ख़ासकर उत्पादन तथा वैज्ञानिक कर्म के क्षेत्र में - इन उपकरणों के हवाले कर रखा है । इनके परिष्कार की प्रक्रिया भी निरन्तर जारी है । कर्म को भी दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है - सामान्य और प्रायोगिक ।

ग. अनुकरण - अनुकरण की प्रक्रिया में उपयोग में लाई जानेवाली सामग्रियों के बारे में बहुत-सी सूचनाएँ मिलती हैं जो आगे अन्वेषण के लिए महत्वपूर्ण होती हैं । अनुकरण को भी दो भागों में बांटा जा सकता है - सामान्य अनुकरण और वर्चुअल सिमुलेशन (मायावी अनुकरण) । प्रायोगिक कर्म और मायावी अनुकरण प्रायः अनुकरण और अन्वेषण का सन्धिस्थल प्रमाणित होता है ।

घ. उपमान - सामान्य सादृश्य और मापदंड पर आधारित तुलनाएँ । ऐसी तुलनाओं से भी कुछेक क्षेत्रों में विभिन्न अस्तित्वों के बीच मौज़ूद भेदों के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं ।

ङ. संचित सूचनाएँ - क़िताबों, शिलालेखों, पुरातात्त्विक अवशेषों, हमारे रीति-रिवाज़ों आदि में सुरक्षित सूचनाएँ । पुरातत्त्व के क्षेत्र में भी तकनीक में भारी प्रगति हुई है । बहरहाल, लिखित सामग्रियों से प्राप्त सूचनाओं का कुछ अंश अप्रासंगिक अथवा गलत हो सकता है अथवा है ।

80. जिस तरह मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को विस्थापित करने वाले उपकरण विकसित करने में क़ामयाब हुआ है, उसी तरह उसने मस्तिष्क के कुछेक क्रियाकलापों (कुछेक बौद्धिक कार्यों) को भी संगणकों के हवाले करने में क़ामयाबी पाई है । कृत्रिम बुद्धि विकसित करने की कोशिशें जारी हैं । हम स्मार्ट उपभोक्ता सामग्रियों, उपकरणों, स्मार्ट रोबो के युग में दाख़िल हो चुके हैं ।

81. ज्ञान चूंकि आज अस्तित्व की पूर्व शर्त है और ज्ञान की मूल इकाई सूचना है, इसलिए सूचना-सम्प्रेषण की तकनीक में भी भारी क्रान्ति आई है । मुद्रण, दृश्य-श्रव्य माध्यम और संगणक आज सूचना के मुख्य संवाहक हैं । उपग्रह-तकनीक और इंटरनेट आज सूचनाओं के त्वरित सम्प्रेषण और उपलब्धि के माध्यम के रूप में तेजी से विस्तार पा रहे हैं ।

82. सूचना के उपर्युक्त स्रोत भी अन्तर्गुंथित हैं और इन स्रोतों का सम्मिलित उपयोग वैज्ञानिक विधि है । इस विधि से प्राप्त सूचनाओं में आन्तरिक संगति बैठाना तर्क है और आन्तरिक संगति बैठाने की मस्तिष्क की क्षमता ही बुद्धि है । सूचना + बुद्धि → वैज्ञानिक-तार्किक विधि → ज्ञान (अथवा बौद्धिक सम्पदा) । यही ज्ञान के उत्पादन की प्रक्रिया है ।

83. यथार्थ का अनुकरण छाया यथार्थ है और छाया यथार्थ का क्रियान्वयन परिवर्तित यथार्थ । यथार्थ → छाया यथार्थ → परिवर्तित यथार्थ : यह चक्र वैसे ख़ुद-ब-ख़ुद तो अन्वेषण की ओर नहीं ले जाता, लेकिन अन्वेषण के लिए/भिन्न होने के लिए आवश्यक संसाधन अवश्य जुटाता है । एक दूसरा पक्ष भी है । परिकल्पित यथार्थ माया यथार्थ है और माया यथार्थ का क्रियान्वयन वास्तविक यथार्थ । यथार्थ का अभाव → परिकल्पित (माया) यथार्थ → मूर्त यथार्थ । भौतिक स्तर पर यह चक्र हमेशा चलता रहता है । पुल का अभाव → पुल की परिकल्पना (माया पुल अथवा वर्चुअल ब्रिज़ का निर्माण) → पुल यथार्थ पुल । मस्तिष्क की अन्वेषक वृत्ति इसी तरह कार्य करती है । (प्रसंगवश, मानसिक स्तर पर भी मनुष्य निरन्तर अभाव के प्रश्न से जूझता रहा है । यह अभाव दरअसल उसके अस्तित्व की अपूर्णता का सनातन भाव ही है । इस अभाव का निरूपण और निराकरण दार्शनिक विमर्श की सर्वप्रमुख समस्या रही है ।)

84. बहरहाल, इस ज्ञान युग में भेदों की मांग काफ़ी बढ़ गई है, सूचनाओं का अभूतपूर्व विस्फोट हुआ है और ज्ञान उद्यमियों की एक नई श्रेणी सामने आई है । उनके अनुकरण के ज़रिये सूचनाओं का, और इस कारण अवसरों का विश्वव्यापी प्रसार हुआ है । साथ ही मांग और आपूर्ति की खाई के कारण, कहीं सूचनाओं की बाढ़ तथा कहीं सूचनाओं के अकाल के कारण, अन्य उत्पादन प्रणालियों की तरह ही इस प्रणाली में भी ज्ञान के सटोरियों और जमाखोरों का तबका सक्रिय हो गया है । मनचाहे,

हानिकारक कृत्रिम भेदों की मैन्युफ़ैक्चरिंग होने लगी है, मिलावटी ज्ञान उद्योग और ज्ञान का चोर बाजार भी पनप रहा है । जीवन के हर क्षेत्र में - विभिन्न किस्म के व्यवसायों से लेकर अनुसंधान प्रयोगशालाओं और समाज संस्थाओं तक में इन कुवृत्तियों की लीलाएँ देखी जा सकती हैं । आधुनिक संचार तकनीक के कारण इन ज्ञान-अपराधों की पहुँच भी विश्वव्यापी है - बस कुछेक बटन दबाने भर की बात है, और आमदनी अरबों डॉलरों में है ।

85. आज हर उत्पाद - सामान्य उपभोक्ता सामग्री से लेकर सेलेब्रिटी व्यक्ति और समारोह तथा विचार तक अब बिकाऊ उत्पाद ही है - ज्ञान-उत्पाद के रूप में ही अपनी विश्वसनीयता स्थापित कर सकता है । इसीलिए प्रख्यात व्यक्तियों तथा प्रयोगशालाओं/अनुसंधान संस्थानों का अनुमोदन उनके विज्ञापन का ज़रूरी अंग बन गया है ।

86. ऊपर हमने जिस ज्ञान-चक्र की चर्चा की है, वह अन्य उत्पादन प्रणालियों में भी चलता रहा है । हाँ, विभिन्न प्रणालियों में चक्र पूरा होने का समय ज़रूर भिन्न-भिन्न रहा । पाषाण-युग में पत्थर के औज़ारों (जैसे हाथ की कुल्हाड़ी, हैंड एक्स) के कमोबेश विश्वव्यापी स्तरीकरण में हजारों वर्षों का समय लगा । आरम्भिक धातु के औज़ार पत्थर के औज़ारों की ही अनुकृति हुआ करते थे । बाद में अनुकरण का अतिक्रमण कर नये-नये किस्म के धातु के औज़ार सामने आये । (इन्नोवेशन) । कृषि युग में विभिन्न कृषि-उपकरणों के स्तरीकरण में शताब्दियाँ लगीं । औद्योगिक युग में इस चक्र का समय औसतन पन्द्रह-बीस वर्ष था। आज के युग में यह घटकर दो से पाँच वर्षरह गया है । इतना ही नहीं, ज्ञान-युग में यह समय हमेशा शून्य की ओर प्रवृत्त होता है । स्तरीकरण के पहले ही आपको नये ज्ञान के साथ आ जाना है । भेद → नया भेद । भेदों का निरन्तर, बिना रुके उद्घाटन आज अस्तित्व की शर्त है । आइडियाज़ डॉट कॉम के इस युग में विचारों पर भारी दाँव लगा हुआ है, उन पर वेनचॅ कैपिटल में लगातार वृद्धि हो रही है । पेटेण्टों को लेकर ज़बर्दस्त होड़ मची है ।

87. जैसा कि हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं, हर प्रणाली का लक्ष्य विभिन्न मानव समुदायों - जनों, खेतिहर समूहों, और राष्ट्रों - का विस्तारित पुनरुत्पादन रहा है । एक अनुमान के अनुसार, फल-संग्राहक और शिकारी जीवन की विकसित अवस्था में पृथ्वी पर मनुष्य की आबादी क़रीब 60 लाख थी । दस हजार वर्षों के कृषि युग में इसमें क़रीब सौ गुनी वृद्धि हुई । कृषि युग के आखिरी दिनों, अथवा विनिमय-युग के आरम्भिक काल में - सत्रहवीं सदी के शुरू के दशकों में आबादी क़रीब 60 करोड़ थी । औद्योगिक युग की महज़ साढ़े तीन-चार शताब्दियों में क़रीब दस गुनी वृद्धि के साथ आज यह 6 अरब है । इस अभूतपूर्व विस्तारित पुनरुत्पादन के क्रम में धरती पर होमोसेपियन नामक इस प्रजाति का इस क़दर वर्चस्व कायम हो गया है कि अब वह उसके अस्तित्व के लिए ही खतरा बनता जा रहा है ।

मनुष्य का अस्तित्व प्रकृति के पर्यावरण (इको-सिस्टम) और उसमें जन्मने, फलने-फूलने वाली प्रजातियों (संक्षेप में, जैव-विविधता) के अस्तित्व के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है । पिछली प्रणालियों, ख़ासकर औद्योगिक प्रणाली में मनुष्य के तीव्र विस्तारित पुनरुत्पादन की कीमत पर पर्यावरण और जैव-विविधता का जो भारी नुकसान अथवा संहार हुआ है, उसकी भरपाई की जिम्मेवारी

आज के ज्ञान समाज पर है । मनुष्य के पुनरुत्पादन को कम करना तथा पर्यावरण के संरक्षण-संवर्धन के ज़रिये जैव-विविधता का विस्तारित पुनरुत्पादन - यह है आज के समाज के समक्ष चुनौती । यह चुनौती उन विचार-प्रणालियों के विस्थापन की भी मांग करते हैं जो मनुष्य को सृष्टि के केन्द्र में रखती हैं, प्रकृति में मनुष्य की श्रेष्ठता का दावा करती हैं, और प्रकृति पर मनुष्य के स्वामीवत् शासन को वैध ठहराती हैं ।

मनुष्य तो सबसे नई प्रजातियों में से एक है । धरती पर अनेक प्रजातियाँ न मालूम कितनी प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच भी दसियों लाख वर्षों से विद्यमान हैं । उनके जीन-समूहों में उनके अस्तित्व की बाबत अनेक बहुमूल्य सूचनाएँ दर्ज़ हैं, जिनसे हम काफ़ी कुछ सीख सकते हैं । ज्ञान के इस अनजाने ख़जाने में संभवतः हमारी बहुत सारी बीमारियों का, हमारे भौतिक जीवन की बहुत सारी समस्याओं का हल छिपा है । जैव विविधता का यह आश्चर्यलोक मनुष्य की सबसे प्राथमिक पाठशाला है, और उसके स्थाई छात्र के रूप में ही हम अपने सुरक्षित और निरन्तर समृद्ध होते अस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं । यह सही है कि मनुष्य का अस्तित्व ही पर्यावरण की विकृति का कारण बनता है, लेकिन हमें कम से कम नुकसान पहुँचाने और प्रत्येक नुकसान की भरपाई करने - 'प्रायश्चित के साथ जीने' की कला भी सीखनी होगी ।

88. जन-क्षेत्र, नदी-घाटी और राष्ट्र-राज्य की जगह भूमि का अर्थ अब पूरी दुनिया है । मानव जाति के समक्ष आज कुछ चुनौतियाँ भी ऐसी हैं जो सामुदायिक और राष्ट्रीय प्रयासों के साथ-साथ वैश्विक प्रयासों की मांग करती हैं । फलतः राष्ट्रीय सम्प्रभुता का क्षरण हो रहा है ।

केऑस सिद्धान्त का एक बहुचर्चित सूत्र हैः धरती के किसी एक हिस्से में तितली के पंखों की फरफराहट दूसरे हिस्से में भयंकर आंधी-तूफान का कारण बन सकती है । पर्यावरण विनाश आज जिस अवस्था में जा पहुँचा है, वहाँ अमेज़न के सदाबहार जंगलों का थोड़ा और क्षरण किन-किन जगहों में (मौसम परिवर्तन, बाढ़ और अकाल आदि के रूप में) क्या-क्या क़हर ढाएगा, इसका आकलन करना मुश्किल है । हालांकि पिछले कई वर्षों से इसकी झलक हमें मिलती रही है । ऐसी ही स्थिति अन्य कई क्षेत्रों में है । पर्यावरण, जैव-विविधता, प्रदूषण, जनसंख्या, अन्तरिक्ष और सामुद्रिक अनुसंधान, सागर-तलीय संसाधनों का संरक्षण और उपयोग, परमाण्विक निःशस्त्रीकरण आदि कई ऐसे विषय हैं जहाँ वैश्विक प्रयास काफ़ी पहले शुरू हो चुके हैं । राष्ट्रीय हितों के टकरावों के बावज़ूद कई प्रश्नों पर विश्वव्यापी सर्वानुमति भी बनी है, और कुछेक विश्व-सन्धियाँ भी सामने आई हैं । कुछ विवादास्पद मुद्दों को विश्व-प्रश्न बनाये जाने, और राष्ट्रीय सम्प्रभुता के कुछ क्षेत्रों में सीमित होने के क्रम में विश्व-वर्चस्व की प्रवृत्तियाँ भी समानान्तर रूप से क्रियाशील रही हैं । व्यापार, श्रम-कानून, ग़रीबी-उन्मूलन, प्राथमिक शिक्षा, बाल और स्त्री अधिकार, महामारियों के ख़िलाफ़ अभियान, नशीले पदार्थों की तस्करी, आतंकवाद, मानव अधिकार, जनतंत्र आदि प्रश्नों पर भी वर्चस्व-वृत्तियों तथा राष्ट्रीय हितों के टकरावों के बीच अनेक द्विपक्षीय, बहुपक्षीय और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते तथा पहलकदमियाँ सामने आ रही हैं । विषयों की लम्बी सूची ही बताती है कि कितने प्रश्न राष्ट्रीय सीमाओं से ऊपर उठकर विश्व-समुदाय की कार्यसूची का भी अंग बन चुके हैं । अपनी आबादी और

प्राकृतिक संसाधनों के साथ मनमानी करने का राष्ट्र-राज्यों का अधिकार न सिर्फ सीमित हो रहा है, बल्कि आज की चुनौतियों का सामना करने में उनकी क्षमता पर भी प्रश्नचिह्न लगाए जा रहे हैं । कुछ लोगों ने तो अभी ही ख़ुद को पृथ्वी-नागरिकों के मोबाइल रिपब्लिक का सदस्य घोषित कर रखा है ।

इन सब बातों का यह मतलब नहीं कि राष्ट्र-राज्यों का बस अब अन्त ही होने जा रहा है । नहीं, ऐसी बात नहीं है । हाँ, नई वैश्विक चुनौतियों तथा विश्वव्यापी नेटवर्क समाज के क्रमशः बढ़ते दख़ल के बीच उन्हें अपनी भूमिका पुनः परिभाषित करनी पड़ रही है । मानव समाज के असमान विकास, विरासत में प्राप्त स्थितियों और विश्व-वर्चस्व की कोशिशों की पृष्ठभूमि में यह प्रक्रिया अलग-अलग राष्ट्र-राज्यों में अलग-अलग रूपों में सामने आएगी, और आ भी रही है । और राष्ट्र-राज्य ही क्यों, तमाम संगठनों और संस्थानों को भी ज्ञान समाज की ज़रूरतों के अनुरूप पुनर्गठन की प्रक्रिया से गुजरना पड़ रहा है ।

89. औद्योगिक समाज की जीवन-दृष्टि, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, विभिन्न सेक्यूलर विचारधाराओं में अभिव्यक्त हुई । विचारधारा प्रकृति और मानव-समाज के, अथवा उनके विभिन्न पहलुओं के, नियमों का पता लगाने, फिर उन नियमों के आधार पर यथार्थ को रूपान्तरित करने पर ज़ोर देती है । वह यथार्थ की ज़मीन पर पनपती है, किन्तु कालक्रम में वह यथार्थ को विस्थापित कर ख़ुद एक भौतिक शक्ति बन जाती है । ऐसी स्थिति में यथार्थ भी यथार्थ नहीं रहता - वह विचारधारा का सेवक मात्र हो जाता है । विचारधारा के लिए वही यथार्थ ज़रूरी रह जाता है, जो उसे संतुष्ट करता हो । विचारधारा-आधारित आन्दोलन और संस्थाओं के लिए दुनिया अपनी विचारधारा की संकीर्ण दुनिया में सिमट कर रह जाती है ।

विचारधारा का केन्द्र नियम, नकार और निष्कासन है । जो भी चीज उसके नियम से मेल नहीं खाती अथवा उसके नियम से टकराती है, उसे नकार दिया जाता है और यथार्थ की दुनिया से उसके निष्कासन की मुहिम छेड़ दी जाती है । वह यथार्थ पर अपना एकछत्र प्रभुत्व चाहता है । इस तरह वर्चस्व-वृत्ति हर विचारधारा में अन्तर्निहित होती है, हालांकि यही उसके पतन का कारण भी बनती है ।

मनुष्य के अस्तित्व की समग्रता के लिहाज़ से विचारधाराओं की निश्चय ही अपनी एक भूमिका है । नियम है, और नियमों की जानकारी और उनका कार्यान्वयन यथार्थ को रूपान्तरित करने में कामयाब भी होता है । चूँकि यथार्थ के अनेक आयाम हैं, इसीलिए समाज में एक ही समय अनेक विचारधाराएँ क्रियाशील रहती हैं । वर्चस्व के लिए उनके बीच प्रतिस्पर्धा भी चलती रहती है ।

ज्ञान समाज के आगमन के साथ विचारधाराओं का भी अवमूल्यन हुआ है । विभिन्न विचारधाराओं और पार्टियों के बीच विचारधारात्मक विभाजन रेखाएँ धूमिल हुई हैं, और कुछ तो विचारधाराओं के अन्त की घोषणा भी कर चुके हैं । भेदों की नित नई श्रृँखलाओं के उद्घाटन पर आधारित होने के कारण ज्ञान समाज बहुलता (प्लुरलिज़्म) का पक्षधर है । उत्पादों की तरह ही, जीवन के हर क्षेत्र में पहचान की नई-नई (यथार्थ अथवा वर्चुअल) परतों का उद्घाटन ज्ञान के समाजशास्त्र का महत्वपूर्ण

कार्यभार है । औद्योगिक समाज की 'राष्ट्र' और 'वर्ग' जैसी भारी-भरकम स्तरीकृत श्रेणियों की जगह यहाँ हम एथनिक समूहों, सबॉल्टर्न समुदायों, उपभोक्ता संगठनों, सूचना-मण्डलों, एफ़िनिटी ग्रुप्स, चैट ग्रुप्स और विभिन्न वर्चुअल समूहों, संश्रयों, नेटवर्कों का बहुलतावादी संसार पाते हैं । यह समाज बहुलता की किसी एक श्रृँखला के साथ अधिक दिनों तक बँधा भी नहीं रह सकता । बहुलता की कोई एक श्रृँखला अगर उसके लिए पुरानी और अनुपयोगी हो जाती है, तो वह बहुलता की एक नई श्रृँखला सृजित कर लेगा । सूचनाओं पर वर्चस्व के लिए प्रतिस्पर्धा उत्पादों से लेकर जीवन के हरेक क्षेत्र में बहुलताओं के नित नये संसार में प्रतिफलित होती है । विचारधाराओं की बन्द और निश्चित दुनिया के विरुद्ध ज्ञान का संसार चंचल बहुलता का चलायमान संसार है ।

विचारधारा बनाम बहुलता का यह द्वन्द्व, बहरहाल, एक और अनेक/एकता और विविधता को दो परस्पर विरोधी प्रवर्गों में बाँटकर देखने का ही परिणाम है । बहुलताविहीन एकीकृत स्तरीकरण और एकत्व की अनुभूति से शून्य बहुलता - दोनों एक ही नज़रिये की स्वाभाविक परिणतियाँ हैं । तत्वशास्त्रीय रूप में बहुलता का उत्तर-आधुनिक विमर्श विचारधारा की आधुनिक 'ग्रैंड नेरेटिव्स' का प्रतिक्रियात्मक विरोध भर है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अनेक एक के, विविधता एकता के अस्तित्व का ढंग है । विज्ञान का भाषा में, भेदों/बहुलताओं की प्रत्येक श्रृँखला के उद्घाटन को हम संतुलन-भंग (सिमिट्री-ब्रेकिंग) कह सकते हैं । लेकिन संतुलन-भंग का प्रत्येक बिन्दु पुनर्सामान्यीकरण (रिनॉर्मलाइज़ेशन) की अवस्था का भी संकेत देता है । उसी तरह भेदों/बहुलताओं की प्रत्येक श्रृँखला अभेद का भी साक्षात् कराती है ।

90. ज्ञान अगर भेद की क्रिया है, तो अध्यातम अभेद की अनुभूति । ज्ञान अगर भिन्न होना है तो अध्यात्म एकात्म होना । ज्ञान और अध्यात्म दोनों मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ हैं । मुनष्य मशीन बनाने वाला प्राणी ही नहीं है, वह मंदिर बनाने वाला प्राणी भी है । एक उसके जीविकोपार्जन के लिए ज़रूरी है, तो दूसरा उसकी 'मुक्ति' के लिए ।

91. अध्यात्म के बिना भिन्न होना विरोधी होने में बदल जाता है, ज्ञान विध्वंस और विनाश की ओर ले जाता है । एकात्मता स्तरीकरण या सार्विकरण नहीं है - वह तो भिन्नता, अनन्त भिन्नता की स्वीकृति है, और भिन्नता में एकत्व की अनुभूति है ।

आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि ही संसार को विरोधों में बाँटकर देखने की चिन्तन विधि का विकल्प हो सकती है । उपर्युक्त चिन्तन विधि में, एक दूसरे से ही अपनी पहचान ग्रहण करता है । एक की स्थापना दूसरे का निषेध है । दूसरे की निकृष्टता प्रमाणित किये बग़ैर एक अपनी श्रेष्ठता भी स्थापित नहीं कर सकता । संसार प्रत्यक्षतः ऐसा ही दिखता है । लेकिन प्रत्यक्ष का संसार एकमात्र संसार नहीं ।

भिन्न होना विरोधी होना नहीं है । दरअसल, अस्तित्व ही भिन्नता है । अपने अस्तित्व की सीमाओं और संभावनाओं को समझना तथा संभावनाओं को पूरी तरह अंज़ाम देने की कोशिश करना ही पहचान की प्रक्रिया है । लेकिन प्रायः अस्तित्व सीमा का अतिक्रमण करता है और सर्वव्यापी होने की

कोशिश करता है । पहचान की प्रक्रिया अन्य अस्तित्वों का निषेध करने और उन्हें निर्मूल करने की प्रक्रिया बन जाती है । यह अस्तित्व के आधार का ही निषेध है । भिन्नता का अन्त सारे अस्तित्वों का भी अन्त है । यह बात प्रकृति और समाज के सभी प्रकार के अस्तित्वों पर - व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, कर्म, विचार, मानव जाति आदि सभी पर - लागू होती है ।

एक रुख़ पारस्परिक स्वीकृति और सम्मान, सहानुभूति और सहयोग तथा समझदारी और शान्ति की ओर ले जाता है । दूसरा नकार और असहिष्णुता, तनाव और तिक्तता, नफ़रत और हिंसा को जन्म देता है ।

92. ज्ञान भेद की क्रिया अवश्य है, लेकिन अपने विकास-क्रम में वह एक सापेक्ष एकीकृत दृष्टि को भी जन्म देता है । ज्ञान का यह एकत्व दरअसल एक काल-विशेष में उपलब्ध सूचनाओं का तर्क आधारित एकत्व है । जाहिर है कि नई सूचनाएँ इस एकत्व का अन्त कर देती हैं, और फिर नई तार्किक एकता की ज़मीन तैयार करती हैं । नई सूचनाएँ पुरानी एकीकृत दृष्टि के साथ संगति नहीं बिठा पाती हैं, और चूँकि इन नई सूचनाओं का पता लगानेवाले पुरानी स्वीकृत दृष्टि से ही चीजों को देखने-समझने के अभ्यस्त होते हैं, इसीलिए वह दृष्टि नई तर्कसंगत दृष्टि के निर्माण में बाधक सिद्ध होती है ।

आधुनिक काल में नई वैज्ञानिक खोजों की रोशनी में इस तरह की एकीकृत विश्वदृष्टि के निर्माण का पहला श्रेय न्यूटन को जाता है । न्यूटन की यांत्रिक-नियतिवादी दृष्टि लम्बे समय तक प्रभावी रही, और उसने यूरोप में चर्च की विश्वदृष्टि के विरुद्ध एक सेक्यूलर विश्वदृष्टि के निर्माण में निर्णायक भूमिका अदा की । उन्नीसवीं सदी के अन्त में नई खोजों ने (खासकर प्रकाश के तरंग सिद्धान्त ने) इस यांत्रिक-नियतिवादी दृष्टि की सीमाओं को उजागर कर दिया । फ़ैरेडे, मैक्सवेल, हर्त्ज़ आदि इस आधार (दृष्टि) के साथ नई खोजों की संगति बैठाने के प्रयास में सफल नहीं हुए । जे.जे. थॉमसन आदि ने एक नया फ़ील्ड सिद्धान्त विकसित करने का प्रयास किया । बहरहाल, बीसवीं शताब्धी के आरम्भिक दशकों में न्यूटन के यांत्रिक-नियतिवाद का स्थान सापेक्षता-संभाव्यता-अनिश्चितता के सिद्धान्त ने ले लिया । इसका श्रेय आइन्स्टीन, नील्स बोर, श्रोडिंगर और हाइज़ेनबर्ग को जाता है । सापेक्षता के सिद्धान्त, क्वांटम यांत्रिकी और अनिश्चितता के नियमों ने न्यूटन की दुनिया ही उलट-पुलट कर रख दी ।[29]

यह सापेक्षता-संभाव्यता-अनिश्चितता का सिद्धान्त तार्किक प्रणाली का सीमान्त है । जिस तरह न्यूटन के विश्व ने आधुनिक सेक्यूलर बुद्धिवादी सिद्धान्तों और विचारधाराओं के विकास में अहम भूमिका निभाई थी, उसी तरह इस सिद्धान्त ने उत्तर-आधुनिक विमर्श को काफ़ी प्रभावित किया है । यह दौर तत्वशास्त्र, कला और साहित्य के क्षेत्र में अति यथार्थवाद (सुरियलिज़्म) और अस्तित्ववाद की विभिन्न शाखाओं, चेतन-प्रवाह, केऑस, एब्सर्ड, जादुई यथार्थवाद, प्रबन्धन के क्षेत्र में पार्श्व चिन्तन (लेटरल थिंकिंग) आदि के प्रादुर्भाव और प्रतिष्ठा का दौर साबित हुआ । पहले तो सार्विक नियमों और प्रमेयों पर आधारित विचार प्रणालियों का स्थान इन्द्रियानुभवों के तार्किक विश्लेषण ने ले लिया । फिर तर्क की इस सीमान्त भूमिका को भी चुनौती दी जाने लगी ।[30]

बहरहाल, ज्ञान का सापेक्ष तार्किक एकत्व आध्यात्मिक एकत्व नहीं है । एक में एकता स्थापित की जाती है, दूसरे में एक हुआ जाता है । तथापि, तर्क का सीमान्त एक ओर निहिलिज़्म तो दूसरी ओर आध्यात्मिकता के लिए अनुकूल स्थितियाँ तैयार करता है । बस इतना ही ।

93. अध्यात्म ज्ञान के प्रति अवहेलना की ओर ले जा सकता है और यथास्थितिवाद को भी प्रश्रय दे सकता है । भिन्नताओं की स्वीकृति और उन्हें सम्मान देने का रुख़ अन्वेषण से मुँह मोड़ लेने और अकर्मण्यता की ओर भी ले जा सकता है । अध्यात्म जनित अकर्मण्यता और ज्ञान के स्खलन के कारण ही भारत को पराधीनता झेलनी पड़ी । ज्ञान में गुणी और अध्यात्म में अग्रणी होकर ही वह भाग्य से किए अपने वायदे को पूरा कर सकता है ।

मानव जाति का इतिहास ज्ञान और अध्यात्म के सच्चे समन्वय की कोशिशों का इतिहास भी है । इस समन्वय की कोई टेक्स्टबुक तकनीक नहीं, कोई सर्वकालिक, सार्वदेशिक विधि नहीं । ज्ञान और अध्यात्म । भेदाभेद । द्वैताद्वैत ।

94. ज्ञान आज अगर अस्तित्व की पूर्व शर्त है तो अध्यात्म ख़ुद ज्ञान के अस्तित्व की ।

95. जिस तरह औद्योगिक समाज के उत्थान के काल में उस समाज के प्रणेताओं ने दावा किया था कि मानव जाति की सारी समस्याओं का समाधान औद्योगीकरण तथा और औद्योगीकरण है, कुछ उसी तरह के दावे आज भी हो रहे हैं । ज्ञान समाज के प्रणेता औद्योगिक समाज में पनपे आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति भी दिखलाते हैं और अनेक मामलों में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उनका समर्थन भी करते हैं । उनकी नज़र में ऐसे आन्दोलनों से अन्ततः ज्ञान समाज का मार्ग ही प्रशस्त होगा । ग़रीबी उन्मूलन, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, नौकरशाही - ऐसे सारे प्रश्नों का समाधान वे ज्ञान-प्रणाली में देखते हैं । सूचना का अधिकार, सूचना की स्वतंत्र आवाजाही और नेटवर्किंग आज के प्रचलित नारे हैं ।

बहरहाल, इन प्रणेताओं के दावों में सच्चाई भी है, और साथ ही नये का दंभ-जनित संभ्रम भी ।

मनुष्य के भौतिक अस्तित्व के चार कारकों - श्रम, भूमि, विनिमय और ज्ञान - और चार युगों जिनमें प्रत्येक कारक ने अलग-अलग केन्द्रीय भूमिका निभाई है, के वर्णन का यह मतलब नहीं कि मानव समाज अपने विकास की चरम अवस्था में जा पहुँचा है । जैसे चार आधारभूत शक्तियों के अन्तःमिश्रण से सृष्टि में नाना अस्तित्व-रूप दिखाई देते हैं, उसी तरह इन चार कारकों के अन्तःमिश्रण से नाना प्रकार के समाजों की संभावना बनती है ।

मानव जाति के लिए कोई प्रणाली अथवा व्यवस्था अन्तिम नहीं - वह अपना बेहतरी के प्रयास को कभी तिलांजलि नहीं देगी ।

घ. चेतन अस्तित्व

सामान्य

96. अपने जीवनयापन के क्रम में मनुष्य निरन्तर अपनी समृति में डूबता-उतराता रहता है, अपने होने के अनेको अर्थ उलीचता जाता है, अपने को परिभाषित और पुनर्परिभाषित करने की ज़द्दोज़हद में उलझा पाता है । मैं नहीं जानता मैं क्या हूँ, मेरा मन भटकता फिरता है । ऋग्वेद के एक श्लोक का कुछ ऐसा ही भावार्थ है । स्मृति ही भौतिक जीवन के परस्पर विरोधी प्रवर्गों में तादात्म्य स्थापित करती है और एक-दूसरे में उनका रूपान्तरण संभव बनाती है । महान मध्यस्थ है यह स्मृति । इसी स्मृति से गुजरकर क्षण अनन्त बनता है, लोकायत वेदान्त और सभ्यता संस्कृति । स्मृति में, चेतना में जीने का कुछ ऐसा ही रंग-ढंग है ।

97. मनुष्य के चेतन अस्तित्व के चार उपादान हैं - अज्ञात, कल्पना, यथार्थ और एकत्व-बोध ।

अपने अस्तित्व के दौरान मनुष्य बार-बार अज्ञात से टकराता है । हर समय, हर जगह, वह हमारे आसपास होता है, किन्तु हम उसे पकड़ नहीं पाते । वह हमारी अनुभूति में तो आता है, किन्तु हम उसकी शिनाख़्त नहीं कर पाते । जीवन में नान रूपों में अभिव्यक्त होता है यह अज्ञात ।

हम जानते हैं कि हमारे अस्तित्व का एक अच्छा-खासा अंश हमारे अन्दर मौज़ूद जीन्स द्वारा निर्धारित होता है । हम अपने अन्दर अरबों शब्दों वाले ज़ेनेटिक कोड के वाहक हैं । हमारे चिन्तन और व्यवहार में यह कोड हमेशा अभिव्यक्ति पाता है, लेकिन कैसे और किस रूप में, यह हम नहीं जानते । हमारी अपनी कृति भी पूरी तरह अपनी नहीं लगती । हमें अपनी अपूर्णता का बोध होता है । अपने आप से परायेपन की अनुभूति होती है । अभाव का यह अहसास, अज्ञात द्वारा हमारे अपने आप का यह विस्थापन हमारे चेतन अस्तित्व का एक स्थायी कारक है ।

एक रचनाकार अपनी कृति में अपने अज्ञात का साक्षात् करता है । रचना में अपने अज्ञात की अभिव्यक्ति उसे अपनी कृति नहीं लगती । कृति कृतिकार को विस्थापित कर अपनी स्वायत्तता हासिल कर लेती है । बहरहाल, कला और साहित्य में अज्ञात की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में सामने आती है । कभी-कभी यह अज्ञात पात्र के रूप में मूर्त रूप ग्रहण कर लेता है - रचनाकार से पृथक और उसे भी वश में कर लेनेवाला पात्र । वह रचनाकार की कृति नहीं, ख़ुद रचनाकार उसकी कृति लगने लगता है । तुलसी के राम या राम के तुलसीदास ? राम तो 'अतर्क्य, बुद्धि मन ग्याना' हैं, फिर तुलसीदास रामचरित कैसे बखान सकते हैं ? यह तो राम ही हैं जो उनसे यह सब करा रहे हैं । उसी तरह व्यास के कृष्ण या कृष्ण के व्यास ? मूर्त और अमूर्त का, कृति और कृतिकार का एक-दूसरे में रूपान्तरण साहित्य में अज्ञात की उपस्थिति का प्रमाण है ।

साहित्य में अज्ञात की अभिव्यक्ति का एक और रूप हम जेम्स जॉयस की 'यूलीसिस' के अन्तिम सौ-सवा सौ पन्नों में पाते हैं । साहित्य एक हद तक लेखक के अन्दर के ज़ेनेटिक कोड की डिकोडिंग होता है । इन सौ-सवा सौ पन्नों में ऐसा लगता है जैसे जॉयस इस ज़ेनेटिक कोड के, अपनी स्मृति के एक अंश का अँग्रेज़ी में लिप्यांतर कर रहे हों । अँग्रेज़ी का व्याकरण बिखर जाता है, और लोग चाहें तो उसके अनेक अर्थ निकाल सकते हैं । ख़ैर, हर लेखक और कलाकार इस अज्ञात का अपने ढंग से अनुभव करता है, और इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति का रूप भी भिन्न-भिन्न होता है ।

98. मनुष्य के चेतन अस्तित्व का दूसरा उपादान कल्पना यथार्थ का विस्थापन नहीं है । वह (गणित की जटिल संख्या की तरह) हमारे जटिल अस्तित्व का अभिन्न हिस्सा है । यथार्थ की क्षैतिज रेखा को काटती हुई इस काल्पनिक ऊर्ध्व रेखा के बिना मनुष्य की आकृति अधूरी रह जाती है । यथार्थ और कल्पना/फंतासी के मेल से ही मनुष्य सृष्टि में अपनी स्थिति की तलाश करता है - अपनी कमोबेश परिपूर्ण छवि गढ़ने की कोशिश करता है । कला और साहित्य मानव अस्तित्व के इसी $\sqrt{-1}$ का निरूपण है ।

कला, आनन्द कुमारस्वामी के शब्दों में, वस्तुओं के प्रकट रूपों का नहीं, उनकी प्रकृति का अनुकरण है । वस्तुओं के रूप तो ख़ुद को हमारी ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष प्रकट कर देते हैं, लेकिन उनकी प्रकृति का अनुकरण कलाकार की कल्पना के लिए चुनौती बन जाता है ।[31] अनजान कलाकारों ने जब बुद्ध की मूर्तियाँ बनाई होंगी, तो उनके मन में बुद्ध की क्या छवि रही होगी ? बुद्धत्व को मूर्त रूप देना कितना असंभव लगता होगा । किस उदात्त कल्पना से उन्होंने ऐसी शानदार, चमत्कृत कर देनेवाली मूर्तियाँ बनाईं कि बुद्ध के चेहरे की अलौकिक शान्ति देखनेवाले के मन-मस्तिष्क में भी उतर जाती है और दर्शक के साथ एक अद्भुत संवाद स्थापित कर लेती है ।

99. यथार्थ - चेतन अस्तित्व का यह तीसरा उपादान - मनुष्य के जीविकोपार्जन और पुनरुत्पादन का, एवं इस प्रक्रिया में मनुष्य द्वारा प्रकृति के साथ तथा आपस में स्थापित सम्बन्ध का क्षेत्र है । यथार्थ में मनुष्य का भौतिक अस्तित्व और सामाजिक जीवन है, रोज़मर्रा के संघर्ष और समझौते हैं, विचारधाराएँ और शासन पद्धतियाँ हैं, रीति-रिवाज़ हैं, कुण्ठाएँ हैं, हार है, जीत है, नायक और खलनायक हैं । यह मनुष्य के कर्म का क्षेत्र है जहाँ हमारी स्वतंत्रता है, दासता है, उत्पीड़न और संघर्ष है, प्रेम और घृणा है, पक्ष और विपक्ष है, हमारा अपना बनाने और बिगाड़ने का खेल है, जन्मना और मरना है । यह यथार्थ कला और साहित्य की आधारभूमि है ।

100. चेतन अस्तित्व का चौथा उपादान है एकत्व-बोध । इसके बिना मनुष्य के अस्तित्व को उसकी समग्रता में पकड़ना ही संभव नहीं । मुक्तिबोध इसे ही विश्वबोध और समग्रानुभूति कहते हैं । 'मनुष्य के हृदय में एक विश्वबोध तैयार रहता है । उसमें मानव अस्तित्व का विश्लेषण और मानव मूल्यों की स्थापना और उस स्थापना के लिए आकुलता की गति चलती ही रहती है ।'[32] सृष्टि के साथ अपने एकत्व की तार्किक समझ हासिल करने के बावज़ूद यह बोध अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग समय और तरीके से आता है । यह मानव चेतना की एक विशिष्ट पहचान है । यथार्थ अगर साहित्य की आधारभूमि है, तो एकत्व-बोध साहित्य की अपरिहार्य मांग ।

101. हमारे चेतन अस्तित्व के ये चारो कारक - अज्ञात, कल्पना, यथार्थ और एकत्व-बोध अलग-अलग नहीं रहते । वे एक-दूसरे से घुले-मिले होते हैं । और अस्तित्व का प्रक्रिया में उनका एक-दूसरे में निरन्तर रूपान्तरण होता रहता है । इस अन्तःक्रिया में ही मनुष्य का चेतन अस्तित्व आकार ग्रहण करता है । इन चार उपादानों के समकक्ष भारतीय मनोविज्ञान में क्रमशः सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत और तुरीय अवस्थाओं का वर्णन है । (तुलसीदास ने सीता-राम, माण्डवी-भरत, उर्मिला-लक्ष्मण,

श्रुतकीर्ति-शत्रुघ्न को इन चार अवस्थाओं के प्रतीक के रूप में भी चित्रित किया हैः सुन्दरी सुन्दर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं । जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं ।।)

कला और साहित्य चूँकि मनुष्य के चेतन अस्तित्व के प्रश्नों से कमोबेश उसकी समग्रता में साक्षात् करता है, इसीलिए ये चारो उपादान कला और साहित्य के भी उपादान हैं ।

102. यहीं यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि मनुष्य के भौतिक अस्तित्व के चार कारक (श्रम, भूमि, विनिमय और ज्ञान) तथा उसके चेतन अस्तित्व के चार उपादान (अज्ञात, कल्पना, यथार्थ और एकत्व-बोध) अलग-थलग नहीं रहते । वे आपस में घुले-मिले होते हैं । उनके बीच परस्पर विरोध का कोई सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि उनके सम्मिश्रण में ही मानव का जटिल अस्तित्व आकार ग्रहण करता है । वे अस्तित्व के अविभाज्य अंग हैं । मनुष्य उन्हें एक साथ जीता है ।

ङ. कला-साहित्य

103. साहित्य सचेत अस्तित्व के इन चार कारकों की जटिल अन्तःक्रिया का निरूपण है । साहित्य में रचनाकार अपनी तमाम व्यक्तिगत विशिष्टताओं बावज़ूद, और उनके साथ, सचेत अस्तित्व को पुनः सृजित करने की कोशिश करता है और इसी कोशिश के परिणामस्वरूप कालजयी कृतियाँ सामने आती हैं । सृजन की यह बेचैनी हर रचनाकार में मौज़ूद रहती है । 'क्या मैं सिरज नहीं सकता?/कर नहीं सकता साकार/गढ़ नहीं सकता?/एक दूसरी दुनिया, दूसरा ब्रह्माण्ड/ताकि जो है उसे रौंदकर, टुकड़े-टुकड़े कर नेस्तनाबूद कर सकूँ?/कहाँ है दूसरा प्रलय? आख़िर कहाँ?'[33] .. 'प्रलय के समय में जब/ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता-लय/होता है अगणन ब्रह्माण्ड ग्रास करके, यह/ध्वस्त होता संसार,/पार कर जाता है तर्क की सीमा को,/ .. विकसित फिर होता मैं,/मेरी ही शक्ति धरती पहले विकार-रूप,/आदि वाणी प्रणव ओंकार ही/बजता महाशून्य-पथ में,/अन्तहीन महाकाश सुनता महानन्द-ध्वनि,/कारण-मण्डली की निद्रा छूट जाती है,/अगणित परमाणुओं में प्राण समा जाते हैं,/नर्तनावर्तोच्छ्वास/बड़ी दूर-दूर से/चलते केन्द्र की तरफ,/चेतन पवन है उठाती ऊर्मिमालाएँ/महाभूत-सिन्धु पर,/परमाणुओं के आवर्त घन विकास और/रंग-भंग-पतन-उच्छ्वास-संग/बहती बड़े वेग से हैं वे तरंगराजियाँ,/जिससे अनन्त - वे अनन्त खण्ड उठे हुए/घात-प्रतिघातों से शून्यपथ में दौड़ते-/बन-बन ख-मण्डल हैं तारा-ग्रह घूमते,/घूमती यह पृथ्वी भी, मनुष्यों की वास-भूमि,/मैं ही हूँ आदि कवि,/मेरी ही शक्ति के रचना-कौशल में हैं/जड़ और जीव सारे/मैं ही खेलता हूँ शक्ति-रूपा निज माया से,/एक, होता अनेक, मैं/देखने के लिए सब अपने स्वरूपों को/....'[34]

104. सचेत अस्तित्व को कमोबेश उसकी सम्पूर्णता में पुनः सृजित करने की इसी कोशिश के कारण प्रायः कालजयी कृतियों में अनेक समानताएँ मिलती हैं । लेकिन न तो यह प्रतिबिम्ब सादृश्य है और न ही चित्राकारतुल्य, बल्कि यह तुल्यदेहिवत है, क्योंकि एक देहधारी दूसरे देहधारी के समान होने पर भी एक (अभिन्न) ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।[35] इसी सादृश्य की चर्चा करते हुए शैली ने 'प्रोमेथ्यू अनबाउण्ड' की भूमिका में लिखा था, 'जहाँ तक अनुकरण की बात है, तो कविता एक अनुकरणमूलक कला है । यह रचती है ज़रूर, लेकिन यह रचना सम्मिलन और सादृश्य के ज़रिये साकार होती है । .. होमर और हेसियोड के बीच .. वर्ज़िल और होरेस के बीच, दांते और पेत्रार्क के

बीच, शेक्सपीयर और फ़्लेचर के बीच, ड्राइडन और पोप के बीच समानता है । प्रत्येक के बीच एक व्यापक (रचयितामूलक) सादृश्य है, और इस सादृश्य के तहत ही उनकी अपनी विशिष्टताएँ सजी होती हैं । अगर यह समानता अनुकरण का परिणाम है, तो मुझे यह स्वीकार करने में कोई झिझक नहीं कि मैंने अनुकरण किया है । ....'[36]

सामान्यतः जिसे लोकप्रिय साहित्य अथवा 'पॉप लिटरेचर' कहते हैं, वह साहित्य की मुख्यधारा नहीं होती । साहित्य की मुख्यधारा कालजयी कृतियाँ होती हैं, जिनकी संख्या किसी भी भाषा में अपेक्षाकृत कम ही होती हैं । ये कृतियाँ हर युग में पढ़ी जाती हैं और हर वर्ग के पाठक इन कृतियों में न जाने कितने अर्थ ढूंढ़ लेते हैं । मनुष्य के चेतन अस्तित्व को उसकी समग्रता में पुनः सृजित करने की कोशिश ही उन कृतियों में अर्थ की अनन्तता का स्रोत है ।[37]

105. कुल मिलाकर, साहित्य के केन्द्र में अनुभूति, स्वीकृति और संस्कार होता है । एक रचनाकार के ज़ेहन में तरह-तरह की अनुभूतियाँ जमा होती रहती हैं । अनुभूतियों का यह 'ब्लैक होल', ये घनीभूत अनुभूतियाँ ही रचना के 'बिग बैंग' में पुनरुत्पादित होती है । रचनाकार कृष्ण विवर और महाविस्फोट के सन्धिस्थल पर खड़ा होता है । 'एक हाथ अपनी कब्र पर और दूसरा अपने पालने पर ।'[38]

106. साहित्य में स्वीकृति कोई निष्क्रिय श्रेणी नहीं है । अव्वल तो इसलिए कि साहित्य संस्कारित किए बिना कुछ भी स्वीकार नहीं करता । दूसरे, अस्तित्व के विभिन्न रूप ख़ुद जड़ श्रेणियाँ नहीं, बल्कि गतिमान श्रेणियाँ हैं । इसीलिए साहित्य में यह गत्यात्मक स्वीकृति विभिन्न अस्तित्व-रूपों की अपनी दिक्-काल सीमाओं में स्वीकृति है । यही कारण है कि साहित्य अपने स्वभाव से ही वर्चस्व-वृत्ति के विरुद्ध रहा है - स्तरीकरण के ख़िलाफ़ सतत् संघर्षरत । वर्चस्व और उत्पीड़न की ताकतें साहित्य को हमेशा विध्वंसक कार्य मानती रही हैं । प्रायः सभी कालजयी कृतियों को किसी-न-किसी समय ऐसी ताकतों की उपेक्षा, उत्पीड़न और प्रतिबन्ध का सामना करना पड़ा है और साहित्यकारों को निर्वासन, जेल अथवा तंगहाली की सज़ा भुगतनी पड़ी है ।

107. साहित्य की रचना शून्य में नहीं होती । किसी रचनाकार को विरासत में साहित्य की एक परम्परा मिलती है । हर काल के साहित्य का अपने पूर्ववर्ती साहित्य के साथ 'एपरेंटेशन एण्ड एफ़िलिएशन'[39] का एक रिश्ता होता है । फिर अपने देश में एक खास परम्परा भी रही है । यहाँ हर कुछ सौ वर्षों के अन्तराल पर चिन्तकों ने सार-संकलन का काम किया है, ताकि जीवन के प्रति अपेक्षाकृत एक सामग्रिक दृष्टि अपनाई जा सके । ऋग्वेद भी इसी तरह का एक सार-संकलन था, उपनिषद, जैन और बौद्ध साहित्य भी, गीता भी, संगम साहित्य और कश्मीर का त्रिक्दर्शन भी, मध्यकाल का संत/भक्ति साहित्य और आदि ग्रंथ भी .. प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सार-संकलन की यह क्रिया आज तक जारी है । क्षेत्रीय पैमाने पर कभी इसका केन्द्र कुरू-पांचाल रहा तो कभी मिथिला और मगध, कभी मदुरै तो कभी बंगाल और असम, कभी मराठा क्षेत्र तो कभी अवध । इस तरह चिन्तन का यह संगम देश भर में प्रवाहित होता रहा है - हाँ, इस पर अंचल विशेष की और चिन्तकों के निजी रुझानों/आग्रहों की छाप भी रही, लेकिन कुल मिलाकर उन्हें भारतीय चिन्तन का सार-संकलन कहा जा सकता है । अनेक छोटे-बड़े राजे-रजवाड़ों में बँटे होने के बावज़ूद भी इस प्रक्रिया

ने एक भारतीय मन के निर्माण में अहम भूमिका निभाई । सार-संकलन के इन ग्रंथों ने एक काल से दूसरे काल के साहित्य के बीच 'क्रिसॅलिस'[40] की भूमिका निभाई । अपभ्रंश के प्रारम्भिक रचनाकारों में से एक सरहपाद का 'दोहा कोश गीति' भी इसी तरह का एक सार-संकलन ही है ।

108. बहरहाल, साहित्य की रचना भाषा में ही होती है और भाषा का व्याकरण, शब्द-संयोजन/वाक्य विन्यास के नियम, अभिव्यक्ति का साहित्यिक शिल्प हमें विरासत में मिलता है । रचनाकार के लिए साहित्य के इस प्रविधि-पक्ष की जानकारी भी अत्यन्त ज़रूरी है, हालांकि इसके साथ उसका दुहरा रिश्ता होता है । वह इनका प्रयोग करता है, साथ ही अपनी अभिव्यक्ति की विशिष्ट ज़रूरतों के अनुरूप उन्हें तोड़ता भी है - हालांकि यह तोड़ना निरपेक्ष नहीं होता । कुल मिलाकर इससे साहित्य का शिल्प समृद्ध ही होता है ।

109. और अन्त में, रचना कोई व्यक्ति करता है - यथार्थ जगत में रोज़मर्रा की ज़द्दोज़हद में शामिल व्यक्ति । उसकी अपनी समस्याएँ होती हैं, अपना बचपन होता है । अपनी गृहस्थी होती है, अपने द्वन्द्व होते हैं, विरासत में मिला अपना परिवेश और उस परिवेश का दबाव होता है । वह अपने आसपास की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों और उनके प्रभावों के बीच जीता है । साथ ही, उसकी भी सीखने की अपनी निहायत निजी प्रक्रिया होती है - अपने चेतन-अस्तित्व को अपने जीवनानुभवों के ज़रिये पहचानने की प्रक्रिया । परिपक्वता आख़िरकार एक प्रक्रिया है जो अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग ढंग से अंज़ाम पाती है ।

क्षण में जीने को भवितव्य यह व्यक्ति अपनी रचना में क्षण से क्षण भर मुक्ति पाता है, परन्तु उसके क्षण की छाप किसी-न-किसी रूप में उसकी रचना में मौज़ूद रहती है । क्षण की व्यावहारिक मांग और रचना में मुक्ति की चाह के बीच का द्वन्द्व जीवन पर्यन्त चलता रहता है । जीवन को उसकी सम्पूर्णता में पकड़ने की प्रक्रिया में क्षण के झमेले बाधक लगते हैं, और क्षण की ज़रूरी जिन्दगी को उपर्युक्त पूरी कोशिश ही बकवास लगती है । जीवन जीना जीवन को बाँचने से ज़्यादा ज़रूरी जान पड़ता है और जीवन बाँचना हो तो अपना जीवन शत्रु-सरीखा लगता है । (*टू दि लाइटहाउस* उपन्यास में मिसेज़ रेमसे के बारे में कही गई यह पंक्ति - लाइफ़ हर ओल्ड एण्टागोनिस्ट - ख़ुद वर्ज़ीनिया वुल्फ़ के अपने तनावों का सार है, एक आत्म-स्वीकारोक्ति ।) इस तनाव में कई रचनाकार की या तो रचनात्मक शक्ति ही खो जाती है, या कभी-कभी वे आत्महत्या भी कर बैठते हैं ।

110. जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, साहित्य चेतन अस्तित्व को उसकी समग्रता में व्यक्त करने का प्रयास है - हालांकि कुछेक कालजयी रचनाओं में ही यह समग्रता कमोबेश साकार हो पाती है । आम तौर पर लिखे जानेवाले साहित्य में हम अस्तित्व के कुछेक आयामों की ही अभिव्यक्ति पाते हैं - यही स्वाभाविक भी है । साहित्य रचना एक प्रक्रिया है । एक लेखक भी प्रायः अपने किसी आदर्श लेखक के अनुसरण से अपनी रचना शुरू करता है । जैसे कोई गायक अपने किसी आदर्श गायक का अनुसरण करते-करते धीरे-धीरे विधा पर, उसके शिल्प पर अपनी पकड़ बनाने लगता है और अपनी आवाज़ पा जाता है । उसी तरह लेखक भी क्रमशः भावाभिव्यक्ति के अपने शब्द और शिल्प पा जाता

है । फिर जीवनानुभवों की एक प्रक्रिया भी ज़रूरी होती है । बहरहाल, प्रत्येक रचनाकार का विकास अलग-अलग ढंग से होता है और उसकी कोई टेक्स्टबुक प्रक्रिया नहीं है । कुल मिलाकर समाज में आम तौर पर प्रचलित साहित्य रचना-प्रक्रिया-में-साहित्य (लिटरेचर-इन-दि-मेकिंग) है, और उससे एक साहित्यिक परिवेश का निर्माण होता है ।

चेतन अस्तित्व को कमोबेश उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करना कोई ज़रूरी नहीं कि भारी भरकम ग्रंथ में ही संभव हो । इसकी अभिव्यक्ति का सबसे संक्षिप्त रूप हमें ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में मिलता है और इसका वृहत्तम रूप 'महाभारत' में ।

111. जहाँ तक विचारधाराओं का प्रश्न है, साहित्य में, उसकी कालजयी कृतियों में हम किसी एक नहीं, बल्कि कई विचारधाराओं का साक्षात् करते हैं । साहित्य उन्हें स्वीकार करता है, लेकिन साथ ही उन्हें उनकी सीमा भी बता देता है और उनका संस्कार करता है । साहित्य विचारधाराओं का गुच्छा लिए होता है - गेंदे की तरह फूलों का गुच्छा जहाँ परत-दर-परत हर फूल की अपनी जगह होती है ।

सचेत अस्तित्व को अपेक्षाकृत सम्पूर्ण गाथा होने के कारण साहित्य विचारधारा समेत यथार्थ के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है । साथ ही नये-नये वैचारिक आन्दोलनों को ज़ज़्ब करने की प्रक्रिया में साहित्य भी समृद्ध होता रहा है । मार्क्स की रचनाओं से गुजरते हुए कोई भी उन पर आम तौर पर यूरोपीय और जर्मन साहित्य तथा खासकर गोएठे का प्रभाव महसूस कर सकता है । रूसी सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों पर रूसी साहित्य के प्रभाव की बात तो जगजाहिर है । वैज्ञानिक मरे गेल-मन को अब तक ज्ञात सबसे सूक्ष्म कणों का नामकरण करते वक़्त ज़ेम्स ज़ॉयस का यह उद्धरण याद आयाः 'थ्री क्वार्क्स फ़ॉर मस्टर मार्क', और उन्होंने उन कणों को नाम दिया - क्वार्क ।

जब कोई विचारधारा अभियानरत रहती है, तब अपनी अन्तर्निहित वर्चस्व-वृत्ति के कारण वह साहित्य को भी अपनी सेवा में लगाने का यत्न करती है । यही साहित्य और विचारधारा के बीच तनाव का कारण बनता है ।

कृति और कृतिकार में एक फ़र्क होता है । रचनाकार एक खास सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक स्थितियों में जीता है । समाज में रहते हुए अपनी ठोस वस्तुगत स्थितियों के अनुरूप वह किसी विचारधारा अथवा पार्टी का अनुयायी हो सकता है । लेकिन अपनी कृति में, अस्तित्व को अपनी समग्रता में पकड़ने की कोशिश में, वह थोड़े समय के लिए अपनी वैचारिक-राजनीतिक प्रतिबद्धताओं से भी मुक्ति पा जाता है । वह इन विचारधाराओं और पार्टियों का जन्म और विकास ही नहीं, उनकी मृत्यु भी देख लेता है । अब भला अपनी मृत्यु का कौन साक्षात् करना चाहेगा ? फलतः प्रतिबद्ध-से-प्रतिबद्ध रचनाकार का भी अपनी विचारधारा के प्रवर्त्तकों और पार्टी प्रतिष्ठान से द्वन्द्व खड़ा हो जाता है । यह द्वन्द्व हर स्थिति में और हर रचनाकार के लिए भले ही आत्महत्या, उपेक्षा-उत्पीड़न, जेल और निर्वासन का सबब न बने, पर यह रहता है अवश्य । विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता की मांग क्रमशः विचारधारा की वाहक पार्टी और विचारधारा के प्रवर्त्तक-नेता के प्रति प्रतिबद्धता की मांग में बदल जाती है । प्रतिबद्धता की मांग को पूरा करने में असमर्थ होता लेखक अन्तरात्मा की शरण लेता है । लेकिन विचारधारा अन्तरात्मा को अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखती है, उसमें उसे षड्यंत्र

और बग़ावत की आहट सुनाई देती है । विचारधारा और साहित्य का द्वन्द्व इन स्थितियों में प्रायः विचारधारा और अन्तरात्मा के बीच द्वन्द्व के रूप में सामने आता है । प्रतिबद्धता किसके प्रति ? विचारधारा के प्रति या फिर अन्तरात्मा के प्रति ? रचनाकार विचारधारा की दीवार में अन्तरात्मा की खिड़की खोलने की कोशिश करता है ।

साहित्य और वैचारिक-राजनीतिक आन्दोलन के बीच कोई एकरेखीय रिश्ता नहीं होता । यह ज़रूरी नहीं कि एक ऐतिहासिक स्थिति में एक तथाकथित अग्रणी विचारधारा का प्रवर्तक श्रेष्ठ साहित्यकार भी हो या फिर कोई श्रेष्ठ साहित्यकार अग्रणी विचारधारा का प्रवर्तक । साथ ही, किसी को भी, इसीलिए साहित्यकार को भी, कर्मचयन की स्वतंत्रता है । वह किसी वैचारिक-राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेता है या नहीं, यह उसके निजी चयन के दायरे में आता है । समाज में अनेक कर्म हैं और हर कर्म का अपना महत्व है । अगर कोई कृषि कर्म अथवा वैज्ञानिक प्रयोगों का कर्म चुनता है तो आप उससे यह प्रश्न नहीं कर सकते कि तुम खेती अथवा वैज्ञानिक प्रयोगों में अपना समय क्यों बर्बाद कर रहे हो, तुम्हें तो अमुक आन्दोलन में होना चाहिए था । आपको उसकी समीक्षा उसके चयन को दायरे में ही करनी चाहिए । कई निर्विवाद रूप से कालजयी रचनाओं के लेखक अपने समय के वैचारिक-राजनीतिक आन्दोलनों से अलग-थलग रहे, इससे उनकी कृति का महत्व कम नहीं हो जाता । इसी तरह किसी वैचारिक-राजनीतिक आन्दोलन में आगे बढ़कर काम करनेवाले बहुतेरे लोगों ने कोई कालजयी रचना नहीं दी तो इससे उस आन्दोलन में उनका योगदान कम नहीं हो जाता । उनका मूल्यांकन भी सम्बन्धित आन्दोलन में उनकी गतिविधियों के आधार पर किया जाना चाहिए । विचारधाराएँ/पार्टियाँ आती-जाती रहती हैं, वे मनुष्य के अस्तित्व का एक हिस्सा हैं, अस्तित्व का पूरा स्पेस उनका नहीं है । हाँ, अस्तित्व का यह पूरा स्पेस साहित्य का विषय ज़रूर है । लेनिन ने टॉल्सटाय का काल निर्धारित किया था - 1861 ई. से 1905 ई. । यानी रूस में भूदास प्रथा के उन्मूलन से लेकर रूस के पहले क्रान्तिकारी उभार के बीच का काल ।[41] उस काल के बाद एक शताब्दी गुजरने को है । इस बीच कितनी विचारधाराएँ आईं-गईं, पार्टियाँ बनीं-बिगड़ीं, किन्तु टॉल्सटाय का (और उन्नीसवीं सदी का महान रूसी) साहित्य अपनी जगह कायम है ।

112. साहित्य के केन्द्र में चूँकि अनुभूति है, इसीलिए जब तक कोई घटना अनुभूति के स्तर पर नहीं उतरती, उस पर साहित्यिक कृति सामने नहीं आ सकती । साहित्यिक रचनाएँ जबर्दस्ती न लिखवाई जा सकती हैं, न लिखी जा सकती हैं । योजना बनाकर नेहरू म्यूज़ियम या इंडिया हाउस में बैठकर, दस्तावेजों का संग्रह कर, सर्वे और साक्षात्कार को आधार बनाकर साहित्यिक कृति नहीं रची जा सकती । वे अपनी जगह ज़रूरी हैं, साहित्य रचना के लिहाज़ से भी काफ़ी महत्वपूर्ण हैं, लेकिन वे अनुभूति को विस्थापित कर साहित्य का आधार नहीं बन सकतीं । किसी घटना को लेकर ज़ज़्बात हो सकते हैं, जुनून भी हो सकता है, कुछ तार्किक-बौद्धिक व्याख्याएँ हो सकती हैं, लेकिन इन चीजों की उपस्थिति ही बताती है कि घटना अनुभूति का हिस्सा नहीं बनी है । ऐसी घटनाओं पर आलेख, रिपोर्ताज़, विवरणात्मक-व्याख्यात्मक क़िताबें लिखी जा सकती हैं क्योंकि उनका आधार तर्क और बुद्धि है । ऐसी रचनाओं का भी निश्चय ही अपना महत्व है, लेकिन वे साहित्य का स्थान नहीं ले सकतीं । नेपोलियन के रूसी अभियान पर टॉल्सटाय की कालजयी कृति 'युद्ध और शान्ति' उस

घटना के क़रीब साठ साल बाद आई । समय के लिहाज़ से महान रूसी साहित्यकार पुश्किन या गोगोल उस घटना के ज़्यादा क़रीब थे, टॉल्सटाय का तब जन्म भी नहीं हुआ था । फिर भी पुश्किन ने नहीं, टॉल्सटाय ने उस अभियान पर यदि कालजयी कृति दी तो इसका कारण यह नहीं था कि पुश्किन कम बड़े साहित्यकार थे । कारण यह था कि तब तक वह अभियान रूसियों की अनुभूति का हिस्सा नहीं बना था । ऐसी बहुत-सी बड़ी-बड़ी घटनाएँ हैं, हादसे हैं जो लोगों की अनुभूति के स्तर पर उतरने में समय लेते हैं । लोग हतप्रभ रहते हैं । समझ नहीं पाते आख़िर ऐसा कैसे हो गया । तर्क और बुद्धि से, कुछ विचारधाराओं की मदद से ऐसी घटनाओं की कुछ व्याख्या तो कर देते हैं, लेकिन फिर भी मन पूरी तरह संतुष्ट नहीं होता । अनुभव और स्मृति के कुछ टुकड़ों से कुछेक कहानियाँ, कुछेक कविताएँ तो बन जाती हैं, लेकिन इस पूरी घटना को अपनी सम्पूर्णता में पकड़ पाना संभव नहीं हो पाता । साहित्य अपना समय लेता है ।

113. इलेक्ट्रॉनिक क्रान्ति, सूचना-संचार-मनोरंजन क्रान्ति के भौतिक और मानसिक अस्तित्व की स्थितियों में काफ़ी तेजी से परिवर्तन ला रहा है । साहित्य पर उसका दबाव भी स्पष्टतः महसूस किया जा रहा है । जीवन से जुड़ी हर जानी-अनजानी चीजों का आज सूचना के रूप में पुनर्अवतार हो रहा है । सूचना के रूप में पुनर्जन्म लेकर ही वे अपनी प्रासंगिकता बरकरार रख पा रही हैं । इसके अपने फायदे हैं तो नुकसान भी ।

वर्चुअल (माया) रीयल (यथार्थ) को विस्थापित करता जा रहा है, और इसकी तार्किक परिणति होगी वर्चुअल मनुष्य द्वारा यथार्थ मनुष्य का विस्थापन । बहरहाल, अपने कमरे में बन्द, वैज्ञानिक उपकरणों से घिरा, परिवार तथा समाज से बस औपचारिक रूप से जुड़ा, अपने कम्प्यूटर पर अपने वर्चुअल विश्व में रमण करता, वर्चुअल शॉपिंग करता, वर्चुअल प्रेम और मौज-मस्ती करता व्यक्ति क्या सचमुच यथार्थ मनुष्य रह गया है ? या वह भी वर्चुअल मनुष्य बन गया है ? यथार्थ परिवार और यथार्थ समाज का स्थान भी धीरे-धीरे वर्चुअल नेट परिवार और वर्चुअल नेट समाज लेता जा रहा है तथा सामाजिक सम्बन्धों का स्थान नेटवर्किंग । हेगेल की शैली में कहें तो जो भी यथार्थ है, वह वर्चुअल है; जो भी वर्चुअल है, वह यथार्थ है । वर्चुअल और यथार्थ का एक-दूसरे में रूपान्तरण मनुष्य के अस्तित्व के सन्दर्भ में क्या मायने रखता है ? वर्चुअल की दुनिया कोई त्याज्य चीज नहीं है, वह मानवीय प्रविधि की अभूतपूर्व उपलब्धि है । (विज्ञान की भाषा में शक्ति-कणों को वर्चुअल कण कहा जाता है ।) इसीलिए सवाल फिर सिर्फ नकार का नहीं है । अथवा यथार्थ और वर्चुअल को दो परस्पर विरोधी प्रवर्गों में बाँटकर एक पर दूसरे के वर्चस्व के पक्षपोषण का नहीं है । सवाल यह है कि हमारे अस्तित्व की स्थितियों में हो रहे ये परिवर्तन साहित्य में किस रूप में स्वीकृत हो रहे हैं ? उनका कैसे संस्कार किया जा रहा है ? क्या वर्चुअल ख़ुद एक विचारधारा बनता जा रहा है और अस्तित्व का पूरा स्पेस हथियाता जा रहा है ? वर्चुअल का वर्चस्व ? यथार्थ पर माया का वर्चस्व ?

दृश्य-श्रव्य माध्यमों के सर्वव्यापी प्रसार के कारण एक विधा के रूप में पटकथा-लेखन की मांग काफ़ी बढ़ गई है । यथार्थ और वर्चुअल का (सम्मोहित कर देनेवाला) दृश्य-मिश्रण सशक्त पटकथाओं में पहले से ही अभिव्यक्त होता आया है । परिष्कृत प्रविधि और सशक्त पटकथा दृश्य-श्रव्य माध्यमों में

सफलता की शर्त है । साहित्य की अन्य विधाओं पर भी पटकथा-लेखन का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देने लगा है । उपन्यासों को विस्थापित कर क्या पटकथा-लेखन ज्ञान समाज में साहित्य की मुख्य विधा हो जाएगी ?

पटकथाओं की, और गानों की रीमिक्सिंग लोकप्रिय मनोरंजन उद्योग का अभिन्न अंग बन चुकी है । उसी तर्ज़ पर लिटरेचर रीमिक्सिंग (लिट-रीमिक्स) के भी संकेत मिलने लगे हैं । पॉप साहित्य विचारधारा के अधिक नजदीक होता है क्योंकि उसके केन्द्र में अनुभूति, स्वीकृति और संस्कार के बजाए फ़ार्मूला अथवा कुछ फ़ार्मूलों का समूह, बाजार की मांग और बिक्री की तकनीक होती है । लिट-रीमिक्स पॉप साहित्य का ही नया रूप है । इसे बाजार की मांग के अनुरूप तुरत तैयार किया जा सकता है ।

कुल मिलाकर, सूचना-संचार-मनोरंजन युग में लोकप्रिय मनोरंजन उद्योग के साथ कला और साहित्य के रिश्ते भी पुनर्संयोजन की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं ।

114. मनुष्य का प्रादुर्भाव और विकास भाषा के प्रादुर्भाव और विकास से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है । अपने रोज़मर्रे के जीवन में, जीवनयापन के क्रम में संवाद के माध्यम के रूप में भाषा का व्यावहारिक-सामाजिक पक्ष समाज में प्रचलित वर्चस्व-प्रणाली का अंग बन जाता है । इस पक्ष का, जो भाषाई झगड़ों का कारण बनता है, यहाँ हम जिक्र नहीं करेंगे । भाषा का एक दूसरा पक्ष है जो मानव समुदायों को जोड़ता है, उनके बीच आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करता है । भाषा में मनुष्य सृष्टि के साथ और अपने आत्म से भी संवाद स्थापित करता है और यह संवाद भी भाषा के माध्यम से ही पूरे मानव समाज में न सिरफ संचरित होता रहता है बल्कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित भी होता रहता है । वह मनुष्य की साझा अनुभूतियों तथा स्मृतियों का आगार है ।

115. भाषा की मूल इकाई है शब्द, और शब्द कॉस्मिक (दिव्य) ध्वनियों और गणित की अन्तःक्रिया का परिणाम है । जनों की मंत्रभाषा, कृषि समाज की महाकाव्यात्मक-नाटकीय भाषा, तथा औद्योगिक समाज की सेक्यूलर गद्य भाषा से आज हम जिस कम्प्यूटर भाषा के मुकाम पर पहुँचे हैं, वहाँ रोज़मर्रा के जीवन में शब्दों से दिव्य ध्वनियों का क्रमशः विस्थापन हो रहा है । सिर्फ तार्किक-गणितीय भाषा रह गई है । बीसवीं सदी में तत्वशास्त्र के गणितीय-भाषाई स्कूल ने इलेक्ट्रॉनिक युग के अनुरूप भाषा के अनुकूलन में काफ़ी बड़ी भूमिका निभाई । अब तक प्रचलित भाषा के रूप जहाँ शब्द तत्वशास्त्रीय/दार्शनिक, अनुभूतिपरक अर्थ लिए होते हैं और इसीलिए बहुअर्थी होते हैं, जहाँ वे स्थितियों के अनुरूप अनेक ध्वनियों के वाहक होते हैं, कम्प्यूटर के लिए अनुपयोगी हो गये । इसीलिए उनका तार्किक-गणितीय आधार पर शुद्धीकरण ज़रूरी हो गया । आम दैनिक जीवन से निष्कासित होते दिव्य ध्वनियों का एकमात्र आश्रय-स्थल लगता है शास्त्रीय संगीत और साहित्य ही रह गया है ।

116. सृष्टि ख़ुद एक स्खलन है - अनन्त से स्खलन । एक संतुलन-भंग । सृष्टि के अंग के रूप में मनुष्य इस स्खलन-बोध से, अधूरेपन और अभाव के बोध से संतप्त रहता है । (प्रसंगवश, हर युग में मनुष्य अपने निरन्तर खण्डित होते अस्तित्व के बीच, यह महसूस करता रहा है कि यद्यपि उसने

निरन्तर भौतिक प्रगति की है, तथापि नैतिक रूप से वह गिरता ही आया है । भौतिक प्रगति और नैतिक ह्रास का चिरन्तन द्वन्द्व मानव जीवन का अभिन्न अंग रहा है ।)

बहरहाल, भाषा में वह न सिर्फ अपने इस अभाव का साक्षात् करता है, बल्कि उससे उबरने की कोशिश भी करता है । सृष्टि के स्खलन के रूप में मनुष्य और मनुष्य के उन्नयन के रूप में भाषा - हर भाषा अपने जन्म से ही इस तनाव से ग्रस्त रहती है । यह चिरन्तन तनाव ही भाषा का सौन्दर्य है ।

117. लेकिन भाषा से पहले किंवदन्तियाँ थीः जहाँ भाषा का सरोकार सृष्टि और मनुष्य है, वहीं किंवदन्तियाँ सृष्टि-पूर्व (संतुलन) और (संतुलन-भंग के रूप मे) सृष्टि की उत्पत्ति को देख लेती हैं । यह देखना किंवदन्तियों में आनन्द-उत्सव का रूप ले लेता है । एक वर्णनातीत दृश्य किंवदन्तियों में चमत्कारिक रूप से क़ैद हो जाता है । फिर रहस्य के लिए गुंजाइश ही कहाँ बचती - सब कुछ साफ हो जाता है । वहाँ स्खलन-बोध की पीड़ा नहीं, प्राप्ति का आनन्द होता है ।

118. प्रत्येक भाषा अस्तित्व में आने के बाद किंवदन्तियों को आत्मसात करने की कोशिश करती है - मिथकीय साहित्य की स्वीकृति के रूप में करती भी है । लेकिन इससे भाषा में एक अतिरिक्त तनाव पैदा होता है । मनुष्य के उन्नयन के रूप में भाषा की श्रेष्ठता का दावा संदिग्ध हो जाता है । भाषा दरअसल किंवदन्तियों का स्खलन साबित होती है । हर भाषा में जहाँ एक ओर किंवदन्तियों से मिलने की अन्दरूनी चाह छिपी होती है, वहीं दूसरी ओर हर भाषा का स्वाधीन विकास उसे किंवदन्तियों से निरन्तर दूर लेता जाता है । भाषा विभिन्न उतार-चढ़ावों के साथ यह तनाव झेलती आ रही है ।

किंवदन्तियों को भाषा से अलग रखने की बार-बार कोशिशों के बावज़ूद वे भाषा साहित्य में अनेक रूपों में प्रवेश करती रही हैं - कभी चेतन-प्रवाह के रूप में, कभी सुरियलिज़्म के रूप में, तो कभी जादुई यथार्थवाद के रूप में ।

119. भाषा की तरह, बल्कि अनेक समय में भाषा की तुलना में अधिक आकुलता से, मनुष्य की सृष्टि-पूर्व (संतुलन) तथा (संतुलन-भंग के रूप में) सृष्टि की उत्पत्ति को अभिव्यक्त करने की कोशिश अन्य कलाओं में - मूर्तिकला, चित्रकला, वास्तुशिल्प आदि में भी प्रकट होती है । प्रायः वह भाषा की सीमाओं से विद्रोह करती दिखाई देती है ।

120. आज जब मनुष्य सृष्टि के कथित आरम्भ (महाविस्फोट) को देखने के काफ़ी क़रीब पहुँच चुका है, जब शक्तिशाली पार्टिकल एक्सलरेटर्स में वह शक्ति के एकीकृत सिद्धान्त की पुष्टि में जुटा है, जब इन-विट्रो फ़र्टिलाइज़ेशन और क्लोनिंग के ज़रिये वह ख़ुद अपने प्रतिरूप तथा ज़ेनेटिक इंज़ीनियरिंग के ज़रिये नये-नये जीवन-रूप बनाने की क्षमता हासिल कर चुका है, और जब 'विचारधारा तथा इतिहास का अन्त' घोषित किया जा चुका है, तब क्या साहित्य को भी अपनी मृत्यु की तैयारी शुरू कर देनी चाहिए ? ऐसे जमाने में किंवदन्तियों का क्या स्वाभाविक अन्त हो जाएगा ?

बहरहाल, दूरी या नज़दीकी किसी मूर्त अस्तित्व के साथ ही हो सकती है - अनन्त के साथ नहीं । अनन्त के साथ मनुष्य की दूरी उतनी ही बनी रहेगी जितनी उसकी उत्पत्ति के समय थी । यह दूरी ही किंवदन्तियों का क्रीड़ा-स्थल है । जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है, किंवदन्तियों की उपस्थिति के कारण वह तो कब का मरना भूल चुका है । वह मरना चाहे भी तो यह किंवदन्ती ज़ीन उसे मरने नहीं देगी - वह साहित्य के शरीर में मौज़ूद पी 53 ज़ीन[42] है । और फिर मनुष्य की अमरता के बहाने के रूप में साहित्य को जिन्दा रहने से कोई परहेज भी नहीं ।

टिप्पणियाँ

1. "दोनों (इतिहास और प्रकृति के अध्ययन के) मामले में आधुनिक भौतिकवाद सारतः द्वन्द्वात्मक है और उसे अन्य तमाम विज्ञानों से ऊपर किसी तत्वशास्त्र की अब ज़रूरत नहीं रह गई है । जैसे ही चीजों, और चीजों कके हमारे ज्ञान की विराट समग्रता में अपनी स्थिति स्पष्ट करना प्रत्येक पृथक के लिए ज़रूरी हो जाएगा, वैसे ही इस समग्रता से जुड़ा एक विशेष विज्ञान भी ग़ैरज़रूरी हो जाएगा । तमाम पूर्ववर्ती तत्वशास्त्र से स्वतंत्र जो चीज बची रह जाती है वह है चिन्तन और उसके नियमों का विज्ञान - यानी औपचारिक तर्कशास्त्र तथा द्वन्द्ववाद । बाकी सब कुछ प्रकृति और इतिहास के प्रत्यक्ष विज्ञान में समाहित हो जाता है ।" फ़्रेडरिक एंगेल्स, 'एण्टी-ड्युरिंग', बीजिङ, 1976 ।

प्रसंगवश, किसी भी विचार प्रणाली का जीवनकाल बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि उस विचार प्रणाली के पुनर्जन्म/पुनर्नवीकरण/पुनर्व्याख्या की कितनी गुंजाइश रहती है । प्रायः हर विचार प्रणाली पुनर्नवीकरणों/पुनर्व्याख्याओं की एक प्रक्रिया से गुजरने के बाद या तो लुप्त हो जाती है या फिर किसी दूसरी विचार प्रणाली अथवा प्रणालियों में रूपान्तरित हो जाती है ।

ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण की गुंजाइश के कारण मार्क्सवाद की भी (अलग-अलग राष्ट्रीय स्थितियों में) अनेक व्याख्याएँ सामने आईं । साथ ही एक सार्विक विचार प्रणाली के रूप में उसके स्तरीकरण की कोशिशों तथा उसकी अलग-अलग राष्ट्रीय व्याख्याओं के बीच का द्वन्द्व (खासकर तीसरे कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, 1919-1943 के दौर में) निरन्तर क्रियाशील रहा । इसके परिणामस्वरूप कई छोटे-बड़े विभाजन भी हुए, और इन व्याख्याओं ने भी अनेक मामलों में अपनी सार्विकता का दावा ठोंका ।

2. वाक्यांश स्व. जीवनानन्द दास से साभार ।

एस.एन. दासगुप्त और एस. राधाकृष्णन के अध्ययन मूलतः विवरणात्मक-व्याख्यात्मक हैं । लोकायत पर देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय का कार्य अनुसंधानमूलक है । जे. कृष्णमूर्ति की रचनाएँ ध्यानमूलक हैं ।

बहरहाल, उपनिवेशों में पश्चिमी औद्योगिक सभ्यता के बरक्श अपनी पहचान का प्रश्न विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता रहा है । नई स्थितियों में अपनी पहचान को निरूपित करने के क्रम में, इन देशों के अग्रणी विचारकों ने न सिर्फ अपने-अपने देशों का सांस्कृतिक परम्पराओं और विचार प्रणालियों का, बल्कि तत्कालीन पश्चिमी समाज में प्रचलित विभिन्न विचारशाखाओं - मार्क्सवाद/अतियथार्थवाद/अस्तित्ववाद आदि का भी उपयोग किया ।

अपने देश में भी विभिन्न अंचलों में अनेक विचारकों तथा समाज सुधारकों ने औपनिवेशिक स्थितियों में भारतीय पहचान की विशद व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं । इनमें सबका जिक्र करना तो यहाँ संभव नहीं, फिर भी

उन्नीसवीं सदी के अन्त तथा बीसवीं सदी के आरम्भ के काल में तीन नाम आसानी से लिए जा सकते हैं - स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द और महात्मा गांधी । पूरे स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान महात्मा गांधी पश्चिमी सभ्यता के मुक़ाबले भारतीय पहचान के प्रतीक पुरुष बने रहे ।

3. 'अर्थशास्त्र' में तत्वशास्त्र की चाणक्य द्वारा दी गई परिभाषा ।

4. इस बहिष्कृत मध्य की प्रस्थापना के बारे में हेगेल ख़ुद बताते हैं कि इसके अन्तर्गत कोई चीज या तो (अ) है या (अ नहीं) है । किसी तासरी स्थिति की गुंजाइश नहीं रहती । बहरहाल, इसका खण्डन करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि इस प्रस्थापना में ही तीसरी स्थिति मौज़ूद है । (अ) ख़ुद वह तीसरी स्थिति है क्योंकि वह दोनों, (+अ) तथा (−अ), हो सकती है । इस प्रकार, वह 'कोई चीज' ख़ुद तीसरी स्थिति है, जिसको बहिष्कृत करने की बात की जाती है । प्रसंगवश, इस बाबत विखंडनवादी विमर्श में देरिदा के विचारों को भी देखा जा सकता है ।

5. फ़्रांसिस बेकन, 'एसेज़', तथा 'दि ग्रेट इंस्टॉरेशन एण्ड न्यू एटलांटिस' ।

6. ऋग्वेद, 10/129 ।

7. हेगेल, 'साइंस ऑफ़ लॉज़िक' ।

8. फ़्रेडरिक एंगेल्स, 'वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका' ।

9. छांदोग्य उपनिषद, 8/3/5 ।

10. बृहदारण्यक उपनिषद ।

11. 'कबीर ग्रंथावली', सं. डॉ. माताप्रसाद गुप्त ।

12. 'दोहाकोश-गीति', सरहपाद, सं. राहुल सांकृत्यायन ।

13. 'कबीर ग्रंथावली', वही ।

14. चरक संहिता, 5/29 ।

15. प्रकृति और मानव समाज के अध्ययन के क्रम में प्रायः सभी बड़े चिन्तकों ने भेदों के सापेक्ष संसार से ऊपर उठने की ज़रूरत महसूस की है । इस ज़रूरत की अभिव्यक्ति उनके आलेखों में अलग-अलग रूपों में हुई है । यहाँ कुछ का जिक्र करना ही पर्याप्त होगा । बर्ट्रेंड रसेल की नज़र में तत्वशास्त्र मन की एक निश्चित स्वाभाविक दिशा का मार्ग प्रशस्त करता है । वह हमें सापेक्षताओं (फ़ाइनाइटनेस) से, आसक्तियों और रोज़मर्रा के झमेलों की निरंकुशता से आज़ाद करता है । उसमें अनन्त का गुण है । वह हमें अपनी चंचल चाहतों और क्षुद्र विचारों की क़ैद से मुक्त कर देता है । "हमारे जीवन का यह अनन्त पक्ष किसी एक दृष्टिबिन्दु से दुनिया को नहीं देखता, वह तो निष्पक्ष रूप से, मेघाछन्न समुद्र पर बिखरी प्रकाश किरणों की तरह जगमगाता रहता है । प्राचीन युग और दूरवर्ती क्षेत्र भी उसके लिए उतने ही यथार्थ होते हैं जितना वर्तमान और निकटवर्ती क्षेत्र । विचार में, वह संवेदनाओं के जीवन से ऊपर उठ जाता है, वह हमेशा सार्विक और सर्वसुलभ की तलाश में होता है । चाहतों और आकांक्षाओं के क्षेत्र में, उसका लक्ष्य मेरे-तेरे की भावना से परे, सिर्फ अच्छाई होता है । भावनाओं के धरातल पर, वह सब पर प्यार लुटाता है - न सिर्फ उन पर जो उसके निजी हितों को आगे बढ़ाए । सान्त (फ़ाइनाइट) जीवन के विपरीत, वह निष्पक्ष होता हैः उसकी निष्पक्षता विचारों में सत्य, कर्म में न्याय, और भावनाओं में सार्विक प्रेम की ओर ले जाती है ।" ('इसेन्स ऑफ़ रिलीज़न', हिब्बर्ट जर्नल, अक्टूबर 1912)

इस सिलसिले में टॉयनबी अनेक बार उद्‌धृत किए जा चुके हैं, इसीलिए यहाँ उन्हें दुहराने की ज़रूरत नहीं । मार्क्सवादी भी यह मानते हैं कि वैज्ञानिक समाजवाद का निरूपण मज़दूर वर्ग की वर्गचेतना के स्वाभाविक विकास का नतीजा नहीं । मज़दूर वर्ग अपने वर्ग आन्दोलन के क्रम में अधिक-से-अधिक ट्रेड यूनियन चेतना तक ही पहुँच सकता है । मार्क्स की साम्यावस्था भी सर्वप्रथम मन की वह अवस्था है जहाँ से पूंजीवादी समाज के अन्दरूनी विरोधों को अपेक्षाकृत निष्पक्षता से जांचा-परखा जा सकता है ।

मनोविश्लेषक लाकां हमारी तमाम फंतासियों को समग्रता की हमारी आकांक्षा का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व मानते हैं । उनकी नज़र में समग्रता की हमारी चाहना तार्किक रूप से असंभव है ।

16. वाक्यांश बर्ट्रेंड रसेल का है । "धर्मशास्त्र और विज्ञान के बीच एक निर्जन प्रदेश (नो मेन्स लैंड) है जिस पर दोनों पक्षों के हमलों का खतरा बना रहता है । यह निर्जन प्रदेश ही तत्वशास्त्र (फ़िलोसॉफ़ी) है ।" ('हिस्ट्री ऑफ़ वेस्टर्न फ़िलोसॉफ़ी', लंदन, 1961)

17. इसीलिए ज़ेम्स जी. फ्रेज़र ('दि गोल्डेन बाउ') और अर्नाल्ड ज़े. टॉयनबी ('ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री', खण्ड 7) का यह कहना सही नहीं है कि भारतीय चिन्तन परम्परा में सिर्फ 'विदड्रावल' है, 'रिटर्न' नहीं । टॉयनबी ने बाद में अपने विचार बदले । 'इंटरनेशनल अफ़ेयर्स' (खण्ड 31, संख्या 1, जनवरी 1955) में प्रकाशित अपने एक लेख 'ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्रीः व्हाट आई एम ट्राइंग टु डू' में उन्होंने लिखा, "मेरा तो अब यह विश्वास हो चला है कि तमाम पंथ और तत्वशास्त्र सत्य को, एक या दूसरे पहलू से, आंशिक रूप में ही प्रकट करते हैं । खास तौर पर, मैं जानता हूँ कि दूरियों के खात्मे के कारण हम जिस एक विश्व की ओर बढ़ रहे हैं, उसमें ईसाई, इस्लाम और यहूदी मत बौद्ध और हिन्दू मत से नसीहत ले सकता है । यहूदी परम्परा वाले पंथों के विपरीत, भारतीय धर्म बहिष्कार का पक्षपोषण नहीं करते । वे अस्तित्व के रहस्य तक पहुँचने के वैकल्पिक मार्गों की संभावना को स्वीकारते हैं, और यह मुझे यहूदी, ईसाई और इस्लाम मत के अनोखा तथा अन्तिम (प्रकाशन) होने के प्रतिद्वन्द्वी दावों की तुलना में अधिक सत्य प्रतीत होता है । अपनी पुस्तक के अन्तिम चार खण्ड मैंने इसी भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर लिखे हैं ।"

18. बीसवीं सदी के आरम्भ में 3×10^{-2} इलेक्ट्रॉन वोल्ट के ऊर्जा कण के साथ ब्राउनियन गति की खोज से यह प्रमाणित हुआ कि पदार्थ परमाणुओं से बना है । फिर यह खोज हुई कि ये कथित अविभाज्य परमाणु दरअसल इलेक्ट्रॉनों से बने हैं जो कुछेक इलेक्ट्रॉन वोल्ट की ऊर्जा से युक्त न्यूक्लिअस के चारो ओर चक्कर काटते रहते हैं । न्यूक्लिअस भी 10^6 इ.वो. की ऊर्जा के न्यूक्लिअर बन्धन के साथ प्रोटोन और न्यूट्रॉन से बने पाये गये । इस क्रम में सबसे नयी खोज यह है कि प्रोटोन तथा इलेक्ट्रॉन भी क्वार्कों से बने हैं और ये क्वार्क 10^9 इ.वो. की ऊर्जा से बंधे हैं । इस तरह उच्च और उच्चतर ऊर्जा की स्थितियों के साथ संरचनाओं की नई-नई परतें उद्‌घाटित हो रही हैं ।

पचास और साठ के दशकों में अब्दुस सलाम और स्टीवन वाइनबर्ग ने अपने प्रयोगों से यह प्रमाणित किया कि अति उच्च ऊर्जा की स्थितियों में विद्युत्चुम्बकीय शक्ति (जिसका वाहक स्पिन 1 कण फ़ोटोन है) और दुर्बल न्यूक्लिअर शक्ति (जिसके वाहक स्पिन 1 कण w^+, w^- और z^0 हैं) एक होकर समान आचरण करने लगती हैं । यानी उनका पुनर्सामान्यीकरण घटित होता है । इस खोज के लिए 1979 में सलाम, वाइनबर्ग और शेल्डन ग्लेशो को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया । ऐसी संभावना व्यक्त की जा रही है कि और भी उच्च ऊर्जा की स्थिति में (क़रीब 10^{24} इ.वो. की ऊर्जा की स्थिति में) सबल न्यूक्लिअर शक्ति का भी पुनर्सामान्यीकरण घटित होता है ।

बहरहाल, 10^{24} इ.वो. की ऊर्जा अभी प्रयोगशालाओं की पहुँच से काफ़ी दूर है । पार्टिकल एक्सलरेटर्स की मौज़ूदा पीढ़ी 10^{10} इ.वो. की ऊर्जा पैदा करने में सक्षम है । (10^{9} इ.वो. की ऊर्जा उस ऊर्जा के बराबर है जो एक हाइड्रोज़न परमाणु को पूरी तरह ऊर्जा में रूपान्तरित करने से निःसृत होती है ।)

ऐसा अनुमान किया जाता है कि या तो 10^{-33} से.मी. के अत्यल्प लेंग्थ स्केल पर (प्रोटोन अथवा न्यूट्रॉन का आकार क़रीब 10^{-13} से.मी. है) या फिर 10^{28} इ.वो. की अति उच्च ऊर्जा की स्थिति में विद्युत्चुम्बकीय और गुरुत्वाकर्षण की शक्तियों का भी एकीकरण हो जा सकता है । 10^{10} इ.वो. की वर्तमान प्रायोगिक सीमा और 10^{28} इ.वो. की परिकल्पित सीमा के बीच इतनी दूरी है कि कुछ कहना मुश्किल है । इस बीच नई-नई संरचनाओं की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता ।

संदर्भः 'ए ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ़ टाइम', स्टीफ़न हॉकिंग, लंदन, 1996; और 'ब्लैक होल्स एण्ड बेबी यूनिवर्सेस', स्टीफ़न हॉकिंग, लंदन, 1993 ।

19. सम ओवर हिस्ट्रीज़ (इतिहासों का योग) - अमेरिकी वैज्ञानिक रिचर्ड फ़ाइनमैन द्वारा द्वारा प्रवर्तित अवधारणा । इसके अनुसार, किसी भी कण का दिक्काल में बस एक ही इतिहास अथवा मार्ग नहीं होता (जैसा कि शास्त्रीय, ग़ैर-क्वांटम सिद्धान्त में माना जाता है) । इसके विपरीत कोई भी कण (अ से ब तक जाने में) हर संभव मार्ग अपना सकता है । फ़ाइनमैन को भी बाद में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया ।

यह अवधारणा, भारतीय चिन्तन में (वैदिक, जैन आदि साहित्य में, और रामायण, महाभारत आदि के अनेक प्रसंगों में) वर्णित सत्य के बहुआयामी होने तथा अनेकान्तवाद के साथ साम्य रखती है ।

सी.पी.टी. क्रमः 1956 में दो अमेरिकी भौतिक विज्ञानियों (श्रीमती) सुंग दाओ ली और (श्री) छन निंग यांग ने यह अवधारणा पेश की कि दुर्बल शक्ति पी क्रम का पालन नहीं करती । उसी वर्ष उनके सहयोगी छ्येन श्युंग वू ने उनकी भविष्यवाणी को प्रमाणित कर दिखाया । ली और यांग को नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया । 1964 में दो अन्य अमेरिकी वैज्ञानिकों ज़े.डब्ल्यू. क्रोनिन और वाल फ़िच ने दिखाया कि कुछ कणों जैसे के-मेज़न्स के पराभव (डिके) में सी.पी. क्रम का पालन नहीं होता । (उन्हें भी 1980 में नोबेल पुरस्कार दिया गया ।) इसी तरह यह भी पाया गया कि टी क्रम भी भंग होता है ।

20. चन्द्रशेखर सीमाः सुब्रह्मण्यम चन्द्रशेखर ने (1930 के दशक में ही) यह दिखलाया कि सूर्य के द्रव्यमान से 1.4 गुणा द्रव्यमान वाले तारे अपनी ही गुरुत्वाकर्षण शक्ति के जाल में फंसने को बाध्य हैं । ऐसे तारों के कृष्ण विवर बनने की संभावना बनती है । (क़रीब पाँच दशक बाद चन्द्रशेखर को अपनी खोज के लिए नोबेल पुरस्कार मिला ।)

21. छांदोग्य उपनिषद, 8/13/1 । 'अन्धकार से मैं विविधता की ओर जाना चाहता हूँ, विविधता से ही मैंने अन्धकार तक की यात्रा की है ।'

22. कई नृतत्वशास्त्रियों, मनोविश्लेषकों और समाजशास्त्रियों ने मनुष्य की इस विलक्षणता का गहन अध्ययन किया है । उनकी नज़र में मनुष्य एक अपूर्ण, अनगढ़ प्राणी है । कल्चर (संस्कृति) ही उसे पूर्णता प्रदान करती है । वह अंशतः जैविक (बायोलॉज़िकल) और अंशतः सांस्कृतिक प्राणी है । इस संदर्भ में क्लाउड लेवी स्ट्रॉस का नाम विशेष उल्लेखनीय है । और देखिए, 'दि इन्टरप्रेटेशन ऑफ़ कल्चर्स, सेलेक्टेड एसेज़ बाइ क्लिफ़ोर्ड गीर्त्ज़', न्यूयार्क, 1978 ।

23. हाल ही में वैज्ञानिकों ने स्मरण की प्रणाली में महत्वपूर्ण भूमिका निभानेवाली एक जीन एन.आर. 2बी का पता लगाया है, जो एन-मिथाएल डेस्पार्टेट (एन.एम.डी.ए.) नामक प्रोटीन बनाने में मदद करती है । स्मरण से जुड़े मस्तिष्क के महत्वपूर्ण क्षेत्रों, हिप्पोकैम्पस और एमिगडला को लेकर काफ़ी सूचनाएँ प्रकाश में आई हैं । अल्पकालिक स्मृतियों का स्थायी स्मृतियों में रूपान्तरण, स्थायी स्मृतियों का संरक्षण, विस्मरण की प्रणालियों आदि के सम्बन्ध में अगले कुछ वर्षों में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलने की उम्मीद है ।

24. भारतीय चिन्तन परम्परा और साहित्य में (प्राचीन ग्रीक मिथकों में भी) 'मर्यादा', 'अतिक्रमण' और इनसे उपजे द्वन्द्व के उदाहरण भरे पड़े हैं । रामायण के राम अतिक्रमण की क्षमता रखने के बावज़ूद कदम-कदम पर पुत्र, पति, मित्र, राजा, मनुष्य आदि के रूप में मर्यादा पालन का आदर्श प्रस्तुत करते हैं, इसलिए मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं । सीता लक्ष्मण-रेखा का अतिक्रमण करती है । महाभारत के पात्रों का कहना ही क्या ? द्रौपदी का तो जन्म ही अतिक्रमण था । फिर विश्वामित्र जैसे जटिल पात्र हैं जिन्होंने ख़ुद एक नई सृष्टि रच डाली । ख़ैर, यहाँ इनकी ओर संकेत भर करना हमारा उद्देश्य है ।

25. 'मैज़िक' से यहाँ हमारा कमोबेश वही तात्पर्य है जो ज़ेम्स जी. फ्रेज़र का 'दि गोल्डेन बाउ' में ।

26. बिल गेट्स, स्टीव ज़ोब्स, ज़िम क्लार्क और ज़ेफ़ बेज़ोस - क्रमशः माइक्रोसॉफ़्ट, एपल, नेटस्केप और अमेज़न डॉट कॉम के संस्थापक । नए ज्ञान युग के प्रतीक पुरुष ।

27. इस प्रकरण में उद्धृत सभी आंकड़े 'टाइम' पत्रिका, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.) के प्रकाशनों, तथा ज़ॉन बेलामी फ़ोस्टर लिखित 'दि वलनरेबल प्लेनेट', न्यूयार्क, 1994 से लिए गए हैं ।

28. श्रीमद् भगवद्गीता, अष्टादशोऽध्यायः ।।20।।, ।।21।।, और ।।22।। ।

29. संदर्भः अल्बर्ट आइंस्टीन का 'दि फ़ंडामेण्ट्स ऑफ़ थ्योरेटिकल फ़िज़िक्स', तथा नील्स बोर का 'यूनिटी ऑफ़ नॉलेज़' शीर्षक लेख ।

30. इन धाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ प्रमुख नाम हैः ज़ेम्स जॉयस, अल्बेयर कामू, सल्वाडोर डाली, जौं पाल सार्थ, बोर्खेस, ग्रेब्रिएल गार्सिया मार्ख़ेज़, प्रबन्धन के क्षेत्र में पार्श्व चिन्तन (लेटरल थिंकिंग) के प्रवर्तक एडवर्ड डी बोनो आदि ।

31. आनन्द के. कुमारस्वामी, 'क्रिश्चियन एण्ड ओरिएंटल फ़िलोसॅफ़ी ऑफ़ आर्ट', न्यूयार्क ।

32. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, 'साहित्य में पक्षधरता, विश्वबोध और मानव मूल्य', अगस्त-सितम्बर 1963 (संभावित), नई दिल्ली, 1985 ।

33. ज़ॉन कीट्स, 'हाइपरियनः ए फ्रेगमेण्ट', बुक 1 ।

34. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, 'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को' ।

35. आनन्दवर्धन, 'ध्वन्यालोकः', चतुर्थ उद्योत, वाराणसी ।

36. पर्सी ब्राइश शैली, 'प्रोमेथ्यू अनबाउण्ड', प्रीफ़ेस ।

37. आनन्दवर्धन, उपर्युक्त ।

38. जौं पाल सार्थ, 'शब्द', नई दिल्ली, 1992 ।

39. टॉयनबी द्वारा सभ्यताओं के सम्बन्ध की बाबत प्रयुक्त शब्दावली ('ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री', खण्ड 1) ।*

40. कोष, पंख आने के ठीक पहले की स्थिति । टॉयनबी द्वारा प्रयुक्त (उपर्युक्त, खण्ड 7) ।

41. वी.आइ. लेनिन, 'लेव टॉल्सटाय एण्ड हिज़ इपोक', कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 17, मास्को, 1977 ।

42. पी 53 जीनः एक जीन । इसे 'जीन समूह (ज़ीनोम) का संरक्षक' जीन भी माना जाता है क्योंकि कोशिकाओं में विभाजन के दौरान यह डी.एन.ए. पर नज़र रखता है । इस जीन में गड़बड़ी केन्सर का एक प्रमुख कारण मानी जाती है ।

(प्रस्तुत प्रकरण में 'फ़िलोसॅफ़ी' शब्द के लिए प्रायः तत्वशास्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है । भारतीय संदर्भ में ही दर्शन शब्द का उपयोग हुआ है । प्रायः अधिकांश अँग्रेज़ी उद्धरणों का हिन्दी भावानुवाद लेखक द्वारा किया गया है ।)

[प्रस्तुत पुस्तक के मूल सूत्र 1989-1992 के बीच लिखे गये थे । 2001 में प्रकाशन के लिए देते समय इसमें कुछ नयी सूचनाएँ, नये संदर्भ और नयी व्याख्याएँ जोड़ी गईं । पुस्तक आधार प्रकाशन (पंचकूला, हरियाणा) से 2004 में प्रकाशित हुई । प्रकाशित पुस्तक में 'भारतीयता और वैश्वीकरण' शीर्षक से एक परिशिष्ट भी शामिल किया गया था (इस सॉफ़्ट कॉपी में वह परिशिष्ट नहीं है) । परिशिष्ट दरअसल मीराँ संस्थान, जोधपुर द्वारा भेजी गई प्रश्नावली का लेखक द्वारा दिया गया जवाब था जो 2001 में उसी संस्थान द्वारा प्रकाशित और श्री ओम प्रकाश टाक द्वारा सम्पादित पुस्तक 'साधो सार शब्द मथ लीजे' में संकलित है ।]

* * * *